RNI NO.– UPHIN/26/A0189
ISSN-3139-4841
वर्ष : 01 । अंक : 02
अप्रैल–जून 2026

अनन्त अनादि

विद्वत समीक्षित बहुविषयक संदर्भित अकादमिक शोध पत्रिका

मूल्य : 50/–

शैक्षणिक • पीयर-रिव्यूड • शोध पत्रिका

अनन्त अनादि

(Quarterly Peer-Reviewed Research Journal)

भारतीय ज्ञान परम्परा एवं हिन्दू अध्ययन

CALL FOR PAPERS

शोध-पत्र आमंत्रित

ISSN & RNI

ISSN: 3139-4841
RNI No.: UPHIN/26/A0189

प्रकाशित अंक

जुलाई-सितम्बर 2026 अंक

अंतिम तिथि

10 अगस्त 2026

शोध के क्षेत्र

- भारतीय ज्ञान परम्परा
- दर्शन एवं विचार परम्परा
- संस्कृति, समाज एवं सभ्यता अध्ययन
- इतिहास, पुरातत्व एवं कला इतिहास
- हिन्दू अध्ययन एवं धर्म अध्ययन
- संस्कृत भाषा, साहित्य एवं व्याकरण
- शिक्षा, नीति, प्रबंधन एवं लोक कल्याण
- विज्ञान, पर्यावरण एवं सततू विकास
- अन्य संम्बन्त्त विषय

शोध-पत्र भेजने हेतु ईमेल

anantanaadi26@gmail.com

वेबसाइट

www.anantanaadi.in

PEER REVIEWED
पीयर-रिव्यूड

QUARTERLY JOURNAL
त्रैमासिक शोध पत्रिका

NO PUBLICATION FEE
प्रकाशन शुल्क नहीं

PRINT + ONLINE
मुद्रित एवं ऑनलाइन

अनन्त अनादि

विद्वत समीक्षित बहुविषयक
संदर्भित अकादमिक शोध पत्रिका

वर्ष : 01 । अंक : 02
अप्रैल–जून 2026

ISSN-3139-4841

मूल्य : रु.50/-

संरक्षक

श्री राम बहादुर राय
अध्यक्ष
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, नई दिल्ली

प्रधान संपादक

सुमित राय

editor@anantanaadi.in

सुविचार

अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ।
करोति सफलं जंतोः कर्म यच्च करोति सः ।।

निराश न होना और सदैव उत्साह बनाए रखना
ही मनुष्य को सभी कार्यों में प्रवृत्त करता है।
जो व्यक्ति उत्साहपूर्वक बिना हताश
हुए कार्य करता है, उसके द्वारा किया गया
प्रत्येक कार्य सफल होता है।

अनुक्रम

सम्पादकीय	3
ऋग्वेद और मनुस्मृति में द्यूत (जुआ): धार्मिक, नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण	4-6
कठोपनिषद का संचार–शास्त्रीय विश्लेषण – अंतर्वैयक्तिक, पारस्परिक और परा–संचार के विविध आयाम	7-9
हिमालयी सीमाओं के मौन वास्तुकार : रियाज डीन की मैपिंग द ग्रेट गेम के आलोक में भारतीय पंडित सर्वेक्षकों का पुनर्मूल्यांकन	10-13
हितोपदेश की नीति–दृष्टि एवं वर्तमान बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था	14-18
जनजातीय समाज में त्यौहार और उत्सव संबंधी परंपराएँ	19-23
रामायण की मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना की समीक्षा	24-30
हिन्दू धर्म में नारी का महत्व	31-34

प्रकाशित विज्ञापन एवं रचनाओं से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं है। इनके विवादों का दायित्व विज्ञापनदाता व लेखक का होगा। इसके लिए सम्पादक प्रकाशक, मुद्रक व स्वामी कदापि उत्तरदायी नहीं होंगे। सभी पद अवैतनिक है।

संपादक मण्डल

डॉ. पृथ्वीश नाग
पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
डीडीयू गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज (इलाहाबाद)

डॉ. ज्ञानेन्द्र नारायण राय
सेंटेनरी विजिटिंग फेलो, भारत अध्ययन केंद्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. रवीन्द्र नाथ खरवार
प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. राघवेंद्र मिश्रा
डीन, पत्रकारिता और जनसंचार संकाय
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय,
अमरकंटक,मध्य प्रदेश

प्रो. शरद कुमार मिश्र
प्रोफेसर, जैव प्रौद्योगिकी विभाग
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. अनूपपति तिवारी
सहायक प्राध्यापक – गया कॉलेज
मगध विश्वविद्यालय, बिहार

Peer Review Board/ Committee

1. Dr. Awadhesh Yadav
   Assistant Professor (Philosophy) Laxmi Bai Collage, Delhi University.
2. Dr. Vivek Mishra
   Assistant Professor (Sociology) SVPG Collage, Deoria.
3. Dr. Manoj singh Yadav
   Assistant Professor (AIHC & ARCHAEOLOGY) DAVPG Collage, BHU – Varanasi.
4. Dr. Mangalvardhan Das Sadhu
   Assistant Professor (Shivtatva anusandhan Peeth) Shree Somnath Sanskrit University, Verawal, Gujrat- Bharat.
5. Dr. Vivek Prakash Singh
   Assistant Professor (Sociology) B.N. Mandal University, Madhepura- Bihar.
6. Dr. Pradeep Dixit
   Assistant Professor (Law) SVPG Collage, Deoria.
7. Dr. Pradyot Singh
   Assistant Professor (Hindi) B.R.D.P.G Collage, Deoria.
8. Dr. Ananad Prabhashankar Pandya
   Assistant Professor (Sanskrit) M.T.B. Arts Collage, Surat- Gujrat.

नोट:

- अनन्त अनादि में सभी पद मानद व अवैतनिक है।।
- शोधपत्रिका में प्रकाशित सभी लेखों में लेखकों के अपने विचार है, संपादक मंडल का इससे सहमत होना आवश्यक नहीं हैं।
- पत्रिका से संबंधित प्रत्येक विवाद का न्याय क्षेत्र देवरिया न्यायालय ही मान्य होगा
- मो. ओवैस (ग्राफिक्स डिज़ाइनर) मो. 9807651635

सम्पादकीय

'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' अर्थात् सभी दिशाओं से हमारे पास कल्याणकारी एवं श्रेष्ठ विचार आएँ। महर्षि व्यास कहते हैं' परोपकाराय सतां विभूतयः' अर्थात् सज्जनों की सम्पूर्ण विभूतियाँ लोककल्याण के लिए होती हैं। ज्ञान भी तभी सार्थक होता है जब वह समाज के बीच पहुँचे, विमर्श का विषय बने और नई पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने। प्रिय पाठकों यही कार्य पत्रिकाएँ करती हैं। आज इक्कीसवीं शताब्दी सूचना–विस्फोट, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, वैश्विक संवाद और तीव्र तकनीकी परिवर्तन का युग है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरण में लिखा' वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये' वाणी और अर्थ की अविभाज्य एकता ही साहित्य और ज्ञान की प्राणशक्ति है। 'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या वही है जो मनुष्य को संकीर्णताओं से मुक्त कर व्यापक दृष्टि प्रदान करे। इसी भावना को आधार बनाकर अनन्त अनादि भविष्य में भारतीय ज्ञान–परम्परा के विशेष रुप में हिन्दु अध्ययन के विविध आयामों पर विशेषांक, विषयक शोध, अप्रकाशित स्रोतों का परिचय, समीक्षाएँ तथा अंतरविषयी विमर्शों को निरन्तर प्रोत्साहित करने का संकल्प लेकर आगे बढ़ रही है।

अनन्त अनादि के माध्यम से भारतीय चिंतन के उस अखण्ड परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास कर रहें हैं, जिसमें ऋषियों का तप, आचार्यों का तर्क, कवियों की संवेदना और समाज का अनुभव एक साथ अभिव्यक्त होता है। महर्षि पतञ्जलि कहतें 'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन'अर्थात् जैसे योग चित्त को परिष्कृत करता है, वैसे ही श्रेष्ठ ज्ञान समाज के बौद्धिक जीवन को संस्कारित करता है। यही संस्कार शोध और प्रकाशन की आत्मा है।

इस द्वितीय अंक के लिए देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों तथा स्वतंत्र विद्वानों से विविध विषयों पर शोध–लेख प्राप्त हुए। यह हमारे लिए प्रसन्नता का विषय है कि पत्रिका के प्रति विद्वत् समाज का विश्वास निरन्तर बढ़ रहा है। मैं सभी विद्वानों, शोधार्थियों, परामर्शदाताओं एवं पाठकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनके सहयोग से अनन्त अनादि निरन्तर अपनी यात्रा आगे बढ़ा रही है। यह यात्रा किसी एक व्यक्ति का नही बल्कि भारतीय ज्ञान–परम्परा के पुनर्जागरण की सामूहिक यात्रा है। न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। ज्ञान से बढ़कर इस संसार में कोई पवित्र साधन नहीं। इसी विश्वास के साथ हम अनन्त अनादि के द्वितीय अंक को सुधी पाठकों एवं विद्वत् समाज को समर्पित करते हैं और आशा करते हैं कि यह अंक नवीन विमर्शों को जन्म देगा, गंभीर शोध को प्रेरित करेगा।

प्रधान संपादक
सुमित राय

ऋग्वेद और मनुस्मृति में द्यूत (जुआ): धार्मिक, नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण

डा. वैभव नरेन्द्र शुक्ल
असिस्टेंट प्रोफेसर
तुलनात्मक साहित्य विभाग
वीर नर्मद दक्षिण गुजरात यूनिवर्सिटी, सूरत, गुजरात (भारत)

सारांश

आज की वर्तमान परिस्थिति को देखकर प्राचीन समय में लोगों का धार्मिक, नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण कैसा रहा होगा उसका बीज वैदिक साहित्य में और स्मृति ग्रंथों में दृष्टिगत होता है, प्राचीन समय में जुआ के बारे में निकृष्ट बाते कही जाती रही है।

प्रस्तावना

वैदिक काल से ही भारत में मनुष्य के जीवन की अनेक समस्याओं और उनके निवारण के उपाय वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणों, रामायण और महाभारत जैसे स्मृति ग्रंथों में निहित हैं। इन्हें जानकर व्यक्ति समस्याओं से मुक्त होकर एक सुचारु जीवन जी सकता है। इन्हीं विभिन्न समस्याओं में से एक समस्या है श्द्यूतश (जुआ)। इस द्यूतरूपी दोष को दूर करने के लिए ऋग्वेद और मनुस्मृति में दिए गए उपायों का वर्णन करने का यहाँ प्रयास किया गया है, ताकि व्यक्ति अपने जीवन को सुचारु और व्यसनमुक्त बना सके।

ऋग्वेद के अनुसार :

- व्यक्ति द्यूत (जुए) के व्यसन से मुक्त हो।
- द्यूतरूपी दुष्कर्म का त्याग करे।
- द्यूत को छोड़कर सन्मार्ग पर चले।
- दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुण अपनाए।

ऋग्वेद

दुनिया का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद माना जाता है। इसमें द्यूत (जुए) के विषय में यहाँ अक्षसूक्त की बात की गई है। जुआ व्यक्ति के जीवन को कितना नष्ट कर सकता है, इसकी बात यहाँ स्पष्ट शब्दों में की गई है।

पाँसों का आकर्षण

पाँसे जुआरी को उस तरह आकर्षित करते हैं जैसे काम से संतप्त नारी अपने पति के पास जाती है। वैसे ही पाँसों के आकर्षण से मोहित व्यक्ति जुआरी के घर (अड्डे) जाता है।[1] जब जुआरी पाँसों को यहाँ–वहाँ चलते देखता है, तब उसे बहुत आनंद आता है।[2] पाँसे जुआरी में इतना आकर्षण और मोह उत्पन्न करते हैं कि वह सुंदर सुशील पत्नी को छोड़कर जुआ खेलने चला जाता है।[3] पाँसों का आकर्षण बहुत कठिन होता है।[4] जुआरी विचार करता है कि ''मैं पाँसे कभी नहीं खेलूँगा'' परंतु वह इसके मोह से मुक्त नहीं हो पाता[5] और अपनी छाती फुलाकर, कूदकर जुए के अड्डे पर आता है और कहता है कि ''मैं जीतूँगा''। परंतु पाँसे कभी उसकी इच्छा पूरी नहीं करते हैं और सदैव कभी विपक्षी की इच्छा पूरी करते हैं।[6]

जो जुआरी जुआ जीतता है, उसके लिए पाँसे पुत्र–जन्म के समान आनंद देते हैं। वह मधुरिमा से युक्त हो जाता है और मानो मीठे वचनों से संवाद करता है।[7] पाँसे किसी के वश में नहीं आते, राजा भी पाँसों को नमस्कार करता है।[8]

नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति

इस प्रकार पाँसों का मोह जुआरी को खींच ले जाता है।

द्यूत (जुआर) द्वारा मिलने वाले दुःख

जुआ खेलने वाले व्यक्ति और उसके परिवार को अनेक प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं। उसकी पत्नी दीन–हीन वेश में दुःख भोगती है, उसका पुत्र भी कहाँ–कहाँ भटकता है यह जानकर उसकी माता दुखी होती है, साथ ही जो जुआरी को धन देता है,वह भी मन में सोचता है कि मेरे पैसे वापस देगा या नहीं?[9] अन्य जायां परि मृशन्त्यस्य[10] जुआरी की पत्नी व्यभिचारिणी बनती है और पाँसे हारे हुए जुआरी को मार डालते हैं।[11] पाँसे स्पर्श करने पर ठंडे लगते हैं परंतु हृदय को जलाते हैं। शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति[12] द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि[13] जुआरी की सास उसकी निंदा करती है और उसकी पत्नी उसे छोड़ देती है। जैसे वृद्ध घोड़े को कोई नहीं खरीदता, वैसे ही जुआरी का कोई आदर नहीं करता।

अपनी पत्नी की दशा देखकर जुआरी का हृदय रोता है। अन्य स्त्रियों के सौभाग्य और सुंदरता को देखकर वह दुखी होता है। जो जुआरी सुबह काले घोड़े पर सवार था, वह शाम के समय गरीब बन जाता है और वस्त्र भी उसके शरीर पर बचते नहीं हैं।

द्यूत (जुआर) छोड़ने के उपाय

जुआरी को जुआ न खेलने के लिए ऋग्वेद में निहित अवगुणों को दिखाकर कहा गया है कि–

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः।।[14]

जुआरी को जुआ नहीं खेलना चाहिए बल्कि खेती करनी चाहिए। खेती से जो लाभ प्राप्त हो उसी में संतोष और संतुष्टि माननी चाहिए। इस मार्ग से तुम्हें पत्नी और बहुत सी गौएँ (संपत्ति) मिलेंगी, ऐसा भगवान सूर्यदेव ने मुझसे कहा है।

मनुस्मृति के ९वें अध्याय के २२० से २२४ श्लोक में मनु ऋषि ने जुए के बारे में वर्णन किया है। उन्होंने जुए को अपने राज्य में खेलने पर प्रतिबंध लगाया था और जुए के अड्डों का सख्त विरोध किया था।

द्यूतं समाह्वयं चौव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम्।।[15]

राजा को अपने राज्य से द्यूत (जुआ) को दूर करना चाहिए क्योंकि यह दोष राज्य को नष्ट कर देता है। द्यूत कर्म को चोरी के साथ जोड़ते हुए मनु कहते हैं कि यह प्रत्यक्ष चोरी करने के समान है। इसलिए इसे रोकने के लिए राज्य को हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह आज की बात नहीं है, पूर्वकाल से ही द्यूत (जुआ) बड़े विरोध का कारण बना है, इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को हँसी–मजाक में भी जुए का सेवन नहीं करना चाहिए।[16]

जुआरी के लिए दण्ड

जो मनुष्य जुआ खेलता है या खिलवाता है, राजा को उसके हाथ काटकर उसे दंडित करना चाहिए।[17] राजा को जुआरी को राज्य से हमेशा के लिए निर्वासित (तड़ीपार) कर देना चाहिए।[18] जो छिपकर जुआ खेलते हैं, उन्हें राजा की इच्छानुसार सजा मिलनी चाहिए।[19]

निष्कर्ष

ऋग्वेद और मनुस्मृति दोनों ग्रंथों में जुए का तिरस्कार किया गया है। जुआ खेलने के नुकसान और व्याधियाँ एक खुशहाल परिवार को भी दुखी कर देती हैं। इसलिए जो प्राप्त हो उसमें संतोष मानकर जीवन व्यतीत करना चाहिए, कभी जुआ नहीं खेलना चाहिए। ऐसा ऋषि को सूर्यदेव ने कहा है।[20] मनुस्मृति में जुए की बात समझाते हुए कहा गया है कि पूर्व में जुए के कारण दुखी हुए लोगों के अनेक उदाहरणों द्वारा जाना जा सकता है कि आनंद या मनोरंजन के लिए भी जुआ नहीं खेलना चाहिए। जुआरी को अपने परिवार, पत्नी, पुत्र और माता–पिता के हित के लिए जुआ नहीं खेलना चाहिए, क्योंकि इससे समाज में वह उपहास का पात्र बनता है। समझ–बूझकर जुआ छोड़कर खेती या मेहनत करनी चाहिए।

उपसंहार

ऋग्वेद और मनुस्मृति दोनों प्राचीन ग्रंथों ने जुए का विरोध किया है। इसलिए मनुष्य को जीवन में कभी भी जुए जैसी लत या व्यसन में नहीं पड़ना चाहिए। जुआ जीवन को मुश्किल में डाल देता है। कई उदाहरणों से सिद्ध होता है कि जुआ केवल दुःख ही देता है, इसलिए इसका कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

पाद टिप्पणी

1. ऋग्वेद 10.34.5
2. ऋग्वेद 10.34.1
3. ऋग्वेद 10.34.2
4. ऋग्वेद 10.34.4
5. ऋग्वेद 10.34.5
6. ऋग्वेद 10.34.6
7. ऋग्वेद 10.34.7
8. ऋग्वेद 10.34.8
9. ऋग्वेद 10.34.10
10. ऋग्वेद 10.34.4
11. ऋग्वेद 10.34.7
12. ऋग्वेद 10.34.9
13. ऋग्वेद 10.34.3
14. ऋग्वेद 10.34.13
15. मनुस्मृति 9/221
16. मनुस्मृति 9/227
17. मनुस्मृति 9/224
18. मनुस्मृति 9/225
19. मनुस्मृति 9/228
20. ऋग्वेद 10.34.13

संदर्भ ग्रंथ

- ऋग्वेद संहिता (मण्डल–१०, अक्षसूक्त ३४), अनुवादक/संपादक : श्री रामशर्मा आचार्य, प्रकाशन : युग निर्माण योजना, गायत्री परिवार, मथुरा।
- मनुस्मृति (कुल्लूकभट्ट की मन्वर्थमुक्तावली टीका सहित), शास्त्री, हरगोविंद (१९८२), वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान।

★★★

कठोपनिषद का संचार-शास्त्रीय विश्लेषण - अंतर्वैयक्तिक, पारस्परिक और परा-संचार के विविध आयाम

डॉ मनोज पटेल

सहायक प्राध्यापक
पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
वीर नर्मद साउथ गुजरात यूनिवर्सिटी –सूरत, गुजरात

शोध-सार

कठोपनिषद मात्र एक आध्यात्मिक या दार्शनिक ग्रंथ नहीं है, अपितु यह मानव चेतना और संचार–प्रक्रिया का एक अत्यंत परिष्कृत मैनुअल है। यह शोध पत्र कठोपनिषद (कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा) में निहित यम–नचिकेता संवाद का आधुनिक संचार सिद्धांतों के आलोक में विश्लेषण करता है। जहाँ पश्चिमी संचार मॉडल (जैसे शैनन–वीवर का SMCR मॉडल) सूचना के भौतिक हस्तांतरण तक सीमित हैं, वहीं कठोपनिषद चेतना के हस्तांतरण पर बल देता है। यह अध्ययन अन्वेषण करता है कि कैसे उपनिषद में अंतर्वैयक्तिक संचार रथ रूपक के माध्यम से, (पारस्परिक संचार – गुरु–शिष्य संवाद), और (परा–संचार – ऊँकार का विज्ञान) का अत्यंत वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया गया है।

बीज शब्द (Keywords) : कठोपनिषद, संचार शास्त्र, अंतर्वैयक्तिक संचार, गुरु–शिष्य परंपरा, नचिकेता, यम, संकेत–विज्ञान रथ–रूपक, ज्ञान–मीमांसा।

प्रस्तावना

संचार (Communication) लैटिन शब्द Communicare से उद्भूत है, जिसका अर्थ है साझा करना या एकनिष्ठ करना। आधुनिक संदर्भ में यह प्रेषक और प्राप्तकर्ता के मध्य सूचना, विचारों या भावनाओं के आदान–प्रदान की प्रक्रिया है। परंतु प्राचीन भारतीय वाङ्मय, विशेषकर उपनिषदों में, संचार की अवधारणा केवल डेटा के हस्तांतरण तक सीमित नहीं है। यह बोध के प्रकटीकरण की प्रक्रिया है। उपनिषद शब्द स्वयं (उप+नि+षद्) का अर्थ है– गुरु के समीप निष्ठापूर्वक बैठना। यह अपने आप में एक निकटस्थ–संचार (Proxemic Communication) का सर्वोच्च उदाहरण है।

कठोपनिषद में मृत्यु के देवता यम (प्रेषक/गुरु) और एक जिज्ञासु बालक नचिकेता (प्राप्तकर्ता/शिष्य) के मध्य संवाद है। यह संवाद लौकिक विषयों से आरंभ होकर ब्रह्मांड के सबसे गूढ़ रहस्यों (मृत्यु और आत्मा) तक जाता है। प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य इस प्राचीन ग्रंथ में छिपे संचार के उन सूत्रों को डिकोड करना है, जो आधुनिक मनोविज्ञान, प्रबंधन और शिक्षा–शास्त्र के लिए मील का पत्थर साबित हो सकते हैं।

संचार प्रक्रिया के घटक और यम-नचिकेता संवाद

आधुनिक संचार प्रक्रिया में मुख्य रूप से चार तत्व होते हैं : प्रेषक, संदेश, माध्यम और प्राप्तकर्ता – जिसे SMCR Model कहा जाता है। कठोपनिषद में यह मॉडल अपनी पूर्णता और शुद्धता पर पहुँच जाता है।

प्राप्तकर्ता की योग्यता : पश्चिमी संचार मॉडल में प्राप्तकर्ता की मानसिक और आध्यात्मिक योग्यता पर अधिक बल नहीं दिया जाता, किंतु उपनिषद में अधिकारित्व प्रथम शर्त है। संदेश (ब्रह्मज्ञान) अत्यंत जटिल है, अतः यदि प्राप्तकर्ता में कोलाहल होगा, तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा।

यम ब्रह्मज्ञान रूपी संदेश देने से पूर्व नचिकेता का परीक्षण करते हैं। वे उसे धन, राज्य, अप्सराएं, और दीर्घायु का प्रलोभन देते हैं। नचिकेता इन सभी को क्षणभंगुर बताकर नकार देता है :

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
(कठोपनिषद 1.1.26)

(हे यम! ये भोग कल तक रहने वाले हैं और इंद्रियों के तेज को नष्ट करने वाले हैं।)

यह घटना संचार–शास्त्र की दृष्टि से Noise Filtration (कोलाहल छनन) की प्रक्रिया है। जब तक प्राप्तकर्ता के मन में भौतिक इच्छाओं का शोर रहेगा, तब तक वह परम सत्य के सूक्ष्म संदेश को डिकोड नहीं कर पाएगा। नचिकेता सिद्ध करता है कि उसका सिग्नल–टू–नॉइज रेश्यो उत्तम है।

प्रेषक की प्रामाणिकता : अरस्तू ने संचार में Ethos (प्रेषक की विश्वसनीयता) को अत्यंत महत्वपूर्ण माना है। नचिकेता यम को ही अपना गुरु क्यों मानता है ? क्योंकि मृत्यु से अधिक शाश्वत और तटस्थ कोई नहीं है। यम के पास कोई पूर्वाग्रह नहीं है। एक प्रभावी प्रेषक वही है जिसने स्वयं सत्य का साक्षात्कार किया हो।

कठोपनिषद में संचार के विविध आयाम

कठोपनिषद में संचार मुख्य रूप से तीन स्तरों पर घटित होता है, जिनका विस्तृत विश्लेषण निम्नलिखित है :

पारस्परिक संचार : गुरु–शिष्य संवाद : यम और नचिकेता के बीच का संवाद एक आदर्श पारस्परिक संचार का प्रतिमान है। इसमें सक्रिय श्रवण, सहानुभूति, और फीडबैक का अद्भुत समन्वय है। प्रश्न पूछने की कला– नचिकेता का तीसरा वरदान (मृत्यु के बाद क्या होता है?) एक सटीक, स्पष्ट और निर्भीक प्रश्न है। उत्तम संचार के लिए प्रोबिंग आवश्यक है। श्रेय और प्रेय का सिद्धांत – यम मानव मनोविज्ञान का विश्लेषण करते हुए संचार करते हैं। वे बताते हैं कि मनुष्य के समक्ष दो मार्ग आते हैं– श्रेय (कल्याणकारी) और प्रेय (प्रिय लगने वाला)। प्रभावी संचार वह है जो व्यक्ति को प्रेय की मूर्च्छा से जगाकर श्रेय के मार्ग पर प्रवृत्त करे।

अंतर्वैयक्तिक संचार रथ का रूपक : संचार का सबसे महत्वपूर्ण पहलू वह है जो व्यक्ति स्वयं से बात करता है। कठोपनिषद का रथ रूपक (Chariot Allegory) अंतर्वैयक्तिक संचार और मानव शरीर–विज्ञान का विश्व का सबसे प्राचीन और सटीक मॉडल है।

आत्मानँ रथितं विद्धि शरीरँ रथमेव तु।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। (कठोपनिषद 1.3.3–4)

इस रूपक का संचार–शास्त्रीय अर्थ : यदि सारथी (बुद्धि) के पास लगाम (मन) पर नियंत्रण नहीं है, तो घोड़े (इंद्रियां) बेकाबू होकर रथ (शरीर) को खड्डे में गिरा देंगे। एक स्वस्थ अंतर्वैयक्तिक संचार में बुद्धि स्पष्ट निर्देश मन को देती है, और मन इंद्रियों को नियंत्रित करता है। जब आंतरिक संचार दोषपूर्ण होता है, तब व्यक्ति मानसिक अवसाद और भटकाव का शिकार होता है। आधुनिक Cognitive Behavioural Therapy (CBT) मूलतः इसी आंतरिक संचार को ठीक करने की प्रक्रिया है।

परा–संचार : जब संदेश शब्दों की सीमा से परे हो तो उसे कैसे संप्रेषित किया जाए? यहाँ यम संकेत–विज्ञान (Semiotics) का सहारा लेते हैं। सत्य को शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता, इसलिए यम ऊँ रूपी महा–प्रतीक का प्रयोग करते हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

(कठोपनिषद 1.2.15)

सभी वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, वह पद ऊँ है। संचार में भाषा की एक सीमा है । जब असीमित का वर्णन सीमित भाषा में करना हो, तो प्रतीक का उद्भव होता है। ऊँ एक ऐसा ध्वन्यात्मक प्रतीक है, जो ब्रह्मांडीय कंपन का प्रतिनिधित्व करता है। यह परा–संचार का माध्यम है जहाँ प्राप्तकर्ता (ध्यान के माध्यम से) उस ध्वनि–तरंग के साथ एकरूप हो जाता है और संचार अपने चरम बिंदु अद्वैत में परिणत हो जाता है।

संचार की बाधाएं और उनका निवारण

कठोपनिषद संचार में आने वाली सबसे बड़ी बाधा की पहचान अविद्या के रूप में करता है।

अविद्या रूपी नॉइज :

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

(कठोपनिषद 1.2.5)

अविद्या के अंधकार में रहते हुए, स्वयं को ज्ञानी मानने वाले मूढ़ लोग उसी प्रकार भटकते हैं, जैसे एक अंधे द्वारा ले जाए जा रहे अंधों की पंक्ति। आधुनिक संचार में इसे संज्ञानात्मक पूर्वाग्रह या Illusion of Knowledge (ज्ञान का भ्रम) कहा जाता है। जब प्राप्तकर्ता यह मान लेता है कि वह सब कुछ जानता है (पण्डितंमन्यमानाः) तो उसका रिसेप्टर बंद हो जाता है। यह अहंकार संचार की सबसे बड़ी बाधा है। एक अंधा (अज्ञानी प्रेषक) दूसरे अंधे (अज्ञानी प्राप्तकर्ता) को दिशा नहीं दे सकता। इसके निवारण के लिए नम्रता और जिज्ञासा (जो नचिकेता में है) अनिवार्य है।

भाषा और तार्किकता की सीमा : यम स्पष्ट करते हैं कि आत्मा का ज्ञान कोरी तार्किकता से संप्रेषित नहीं किया जा सकता।

अशाब्दिक और प्रतीकात्मक संचार

कठोपनिषद रूपकों का एक महासागर है। जटिल विचारों के संचार के लिए विजुअल इमेजरी का प्रयोग किया गया है :

ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखम् अश्वत्थम् – ब्रह्मांड की संरचना को समझाने के लिए यम एक उल्टे पीपल के पेड़ का रूपक देते हैं, जिसकी

जड़ें ऊपर (ब्रह्म में) और शाखाएं नीचे (संसार में) हैं। यह जटिल दार्शनिक को एक इन्फोग्राफिक में बदलने का प्राचीन संचार कौशल है। यम नचिकेता को स्वर्ग ले जाने वाली अग्नि विद्या सिखाते हैं और उस अग्नि का नाम नाचिकेताग्नि रखते हैं। अग्नि यहाँ ऊर्जा, परिवर्तन और चेतना की ऊर्ध्वगति का प्रतीक है।

कठोपनिषद के संचार सिद्धांत 21वीं सदी में अत्यंत प्रासंगिक हैं

नेतृत्व और कॉर्पोरेट संचार : एक लीडर (सारथी) को अपनी टीम (इंद्रियों) को एक साझा लक्ष्य (रथी का गंतव्य) की ओर ले जाने के लिए मन (प्रबंधन प्रणाली) को अनुशासित करना होता है। श्रेय (लॉन्ग–टर्म विजन) और प्रेय (शॉर्ट–टर्म प्रॉफिट) के बीच चुनाव हर सीईओ (CEO) की दैनिक संचार–चुनौती है। यम एक आदर्श शिक्षक हैं जो रटाने के बजाय शिष्य की चेतना को उद्घाटित करते हैं। वे शिष्य की पात्रता विकसित करने पर जोर देते हैं। आज की प्रणाली, जो केवल डेटा ट्रांसफर पर केंद्रित है, को कठोपनिषद से ज्ञान के आंतरिककरण की कला सीखनी चाहिए। अंतर्द्वंद्व तब उत्पन्न होते हैं जब हमारे भीतर का रथी सो जाता है और घोड़े अपनी दिशा स्वयं तय करने लगते हैं। माइंडफुलनेस और विपश्यना जैसी तकनीकें इसी रथ रूपक का प्रायोगिक संचार हैं।

निष्कर्ष

कठोपनिषद का संचार : शास्त्रीय अध्ययन यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतीय ऋषियों के पास मानव–मन, भाषा–विज्ञान और चेतना के हस्तांतरण की अत्यंत उन्नत समझ थी। यम और नचिकेता का संवाद मात्र दो व्यक्तियों के बीच की वार्ता नहीं हैय यह शाश्वत प्रज्ञा का मानव मस्तिष्क के साथ सॉफ्टवेयर अपडेट है। इस उपनिषद से हम सीखते हैं कि सफल संचार के लिए केवल परिष्कृत भाषा या उन्नत तकनीकी माध्यम पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि प्रेषक का निस्स्वार्थ भाव, संदेश की सत्यता, और प्राप्तकर्ता की एकाग्रता व पात्रता (अधिकारित्व) अपरिहार्य हैं। जब मन का कोलाहल शांत होता है और अंतर्वैयक्तिक संचार शुद्ध होता है, तभी मनुष्य उस परम ध्वनि (ॐ) और परम सत्य (आत्मा) को ग्रहण कर सकता है, जो वस्तुतः सभी संचार–प्रक्रियाओं का अंतिम गंतव्य है।

संदर्भ ग्रंथ

1) कठोपनिषद (शांकरभाष्य सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर।

2) राधाकृष्णन, एस., The Principal of Upanishads हार्पर कॉलिन्स।

3) चिन्मयानंद, स्वामी, Discourses on Kathopanishad, सेंट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट।

4) शैनन, सी. ई., और वीवर, डब्ल्यू. (1949), The Mathematical Theory of Communication, यूनिवर्सिटी ऑफ इलिनोइस प्रेस।

5) मुकर्जी, राधाकुमुद, Ancient Indian Education: Brahmanical and Buddhist, मोतीलाल बनारसीदास।

★★★

हिमालयी सीमाओं के मौन वास्तुकार : रियाज डीन की मैपिंग द ग्रेट गेम के आलोक में भारतीय पंडित सर्वेक्षकों का पुनर्मूल्यांकन (पुस्तक समीक्षा)

चाहत दुआ

शोधार्थी, स्कूल ऑफ इंटरनेशनल रिलेशन्स

गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय

ईमेल – chahatdua08@gmail.com

सारांश

हिमालय की मानचित्रण–परंपरा का इतिहास अधिकांश ब्रिटिश सर्वेक्षकों के कार्यों पर केंद्रित रहता है, जबकि भारतीय पंडित सर्वेक्षकों के प्रयासों को अक्सर नजरअंदाज कर दिया जाता है। रियाज डीन की पुस्तक मैपिंग द ग्रेट गेम (2019) का उपयोग करते हुए यह लेख तिब्बत और हिमालयी सीमांत के अन्वेषण एवं मानचित्रण में पंडितों की भूमिका को समझने का प्रयास है। इसमें तर्क दिया गया है कि हिमालयी मानचित्रण की सफलता को उनके महत्त्वपूर्ण योगदानों को स्वीकार किए बिना नहीं समझा जा सकता। यद्यपि ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे ने आधिकारिक ढाँचा प्रदान किया, वास्तविक भौगोलिक ज्ञान का बड़ा हिस्सा भारतीय सर्वेक्षकों जैसे– नैन सिंह रावत, किशन सिंह रावत और किंटुप की बहादुरी, स्थानीय विशेषज्ञता और वैज्ञानिक कौशल से आया।

मुख्य शब्द : भारतीय पंडित सर्वेक्षक, हिमालयी मानचित्रण, ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे, रियाज डीन, भारतीय ज्ञान प्रणाली

परिचय

हिमालय का इतिहास प्रायः ब्रिटिश अभियानों, राजनीतिक समझौतों और सीमाओं के निर्माण की कहानियों के माध्यम से बताया जाता है। अधिकांश विवरण आधुनिक मानचित्रों के निर्माण का श्रेय ब्रिटिश अधिकारियों जैसे विलियम लैम्बटन, जॉर्ज एवरेस्ट और थॉमस जॉर्ज मोंटगोमेरी को देते हैं। यद्यपि उन्होंने भारत के ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, इन कथाओं में अक्सर उन भारतीय अन्वेषकों के योगदान को नजरअंदाज कर दिया जाता है जिन्हें पंडित कहा जाता था।

पंडित या मुंशी मुख्यतः आज के उत्तराखंड और सिक्किम की सीमा–समुदायों से आते हैं। इन्होंने पर्वतों के गहन स्थानीय ज्ञान को सर्वे ऑफ इंडिया द्वारा सिखाई गई आधुनिक सर्वेक्षण तकनीकों के साथ जोड़ा। व्यापारी, यात्री या भिक्षु का रूप धारण कर वे तिब्बत और मध्य एशिया में उस समय गए जब यूरोपियों को वहाँ प्रवेश की अनुमति नहीं थी। साहस और चतुर तरीकों से उन्होंने भूगोल, संस्कृति और व्यापार मार्गों की विस्तृत जानकारी एकत्र की। उनका कार्य ब्रिटिश मानचित्रकारों और प्रशासकों के लिए अनिवार्य बन गया। फिर भी, मुख्यधारा के इतिहास में पंडितों का उल्लेख विरले ही मिलता है। औपनिवेशिक लेखकों ने ब्रिटिश अधिकारियों को हिमालयी मानचित्रण के प्रमुख वास्तुकार के रूप में महिमामंडित किया, जबकि वास्तविक क्षेत्रीय कार्य करने वाले भारतीय सर्वेक्षकों को उपेक्षित कर दिया गया। परिणामस्वरूप नैन सिंह रावत, किशन सिंह रावत, किंटुप, मणि सिंह और हरी राम जैसे अन्वेषक आज भी कम जाने जाते हैं।

इस विषय पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है रियाज डीन की मैपिंग द ग्रेट गेमः एक्सप्लोरर्स, स्पाइज एंड मैप्स इन नाइन्टीनथ सेंचुरी एशिया (2019)। डीन ने पंडितों की यात्राओं और तरीकों का विस्तार से वर्णन किया है और दिखाया है कि उनके कार्य ने उन्नीसवीं सदी में तिब्बत और हिमालयी सीमांत के ज्ञान को कैसे आकार दिया। उनका अध्ययन हमें इतिहास में उनकी भूमिका पर पुनर्विचार करने का अवसर देता है। डीन के कार्य पर आधारित यह लेख तर्क देता है कि हिमालयी मानचित्रण को पंडितों को मान्यता दिए बिना समझा नहीं जा सकता। यद्यपि सर्वेक्षण ब्रिटिशों द्वारा संचालित था, हिमालय और तिब्बत में इसकी सफलता पंडितों के स्थानीय ज्ञान, भाषा कौशल, सांस्कृतिक अनुकूलन और वैज्ञानिक क्षमता पर निर्भर थी। वे केवल सहायक नहीं थे, बल्कि भौगोलिक ज्ञान के सृजनकर्ता थे जिनके अवलोकन भारत की उत्तरी सीमाओं के मानचित्रण के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण थे।

उनका योगदान व्यापक भारतीय ज्ञान प्रणाली को भी प्रतिबिंबित करता है। पंडितों ने पर्वतों, व्यापार मार्गों और जीवन–निर्वाह कौशल के बारे में पीढ़ियों से संचित सामुदायिक बुद्धि का उपयोग किया। जब इसे आधुनिक सर्वेक्षण उपकरणों के साथ जोड़ा गया, तो

इस स्वदेशी ज्ञान ने उन्हें वह उपलब्धि दिलाई जो अधिकांश यूरोपीय अन्वेषक नहीं कर सके। यह दर्शाता है कि हिमालयी मानचित्रण केवल औपनिवेशिक परियोजना नहीं था, बल्कि भारतीय विशेषज्ञता का भी परिणाम था। डीन के कार्य को पुनः देखने से यह लेख पंडितों को इतिहास में उनका उचित स्थान दिलाने का प्रयास करता है। उन्हें केवल कुशल अन्वेषक ही नहीं, बल्कि महत्त्वपूर्ण भारतीय योगदानकर्ताओं के रूप में याद किया जाना चाहिए जिनकी भूमिका हिमालय की समझ को आकार देने में कहीं अधिक मान्यता की पात्र है।

ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे और भारतीय पंडितों का उद्भव

ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे , जिसे 1802 में विलियम लैम्बटन ने आरंभ किया था, उन्नीसवीं सदी की सबसे महत्वाकांक्षी वैज्ञानिक परियोजनाओं में से एक थी। इसका उद्देश्य त्रिकोणमिति, खगोलशास्त्र और सटीक गणितीय मापों का उपयोग करके भारत का सटीक मानचित्र तैयार करना था। जॉर्ज एवरेस्ट और बाद में थॉमस जॉर्ज मोंटगोमेरी के नेतृत्व में यह सर्वे धीरे–धीरे मैदानी इलाकों से हिमालय की ओर बढ़ा, जहाँ भूगोल को मापना कठिन था और राजनीति ने अतिरिक्त जटिलताएँ पैदा कीं। मैदानों के विपरीत, हिमालय ने विशिष्ट चुनौतियाँ प्रस्तुत कीं। ऊँचे पर्वत, अत्यधिक मौसम और भरोसेमंद मार्गों की कमी ने सर्वेक्षण को अत्यंत कठिन बना दिया। तिब्बत भी अधिकांश यूरोपियों के लिए बंद था, जिससे ब्रिटिश सर्वेक्षकों को प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने से रोका गया। परिणामस्वरूप, उन्नत तरीकों के बावजूद हिमालयी सीमांत के बड़े हिस्से मानचित्रों पर खाली ही रहे। इन बाधाओं को पार करने के लिए मोंटगोमेरी ने हिमालयी सीमा–समुदायों से कुशल व्यक्तियों को भर्ती किया। बाद में पंडित और मुंशी कहलाए जाने वाले इन लोगों में ऐसी विशेषताएँ थीं जो किसी यूरोपीय के पास नहीं थीं। पर्वतीय भू–भाग का ज्ञान, स्थानीय भाषाओं में दक्षता, रीति–रिवाजों की समझ और व्यापार मार्गों पर नियमित यात्रा। उनकी सांस्कृतिक स्वीकृति ने उन्हें तिब्बत में स्वतंत्र रूप से घूमने की अनुमति दी, जहाँ ब्रिटिश अधिकारी नहीं जा सकते थे। पंडितों को देहरादून में आधुनिक सर्वेक्षण तकनीकों का प्रशिक्षण दिया गया, लेकिन उन्होंने स्वदेशी तरीकों पर भी भरोसा किया। वे दूरी मापने के लिए माला के मनकों की गिनती करते, नोट्स को प्रार्थना चक्करों में छिपाते, ऊँचाई का अनुमान लगाने के लिए उपकरणों का उपयोग करते और भूगोल, संस्कृति तथा राजनीति से संबंधित विवरणों को सावधानीपूर्वक दर्ज करते। उनका कार्य वैज्ञानिक सटीकता और स्थानीय ज्ञान का ऐसा मिश्रण था जो व्यावहारिक और अद्भुत दोनों था। यद्यपि GTS को अक्सर ब्रिटिश विज्ञान की विजय के रूप में मनाया जाता है, हिमालय में इसकी सफलता पंडितों पर निर्भर थी। ब्रिटिशों ने ढाँचा, उपकरण और विधियाँ प्रदान कीं, लेकिन मानचित्रों पर खाली स्थानों को भरने वाला वास्तविक ज्ञान इन भारतीय सर्वेक्षकों के साहस और अवलोकनों से आया। इसलिए हिमालय में GTS का इतिहास केवल एक साम्राज्यवादी वैज्ञानिक परियोजना के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि एक सहयोगी प्रयास के रूप में जहाँ स्वदेशी विशेषज्ञता ने निर्णायक भूमिका निभाई।

भारतीय पंडित सर्वेक्षक : ज्ञान, अन्वेषण और वैज्ञानिक योगदान

भारतीय पंडित सर्वेक्षक केवल ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे के सहायक नहीं थे। वे अन्वेषक और ज्ञान–सृजनकर्ता थे जिन्होंने उन्नीसवीं सदी में हिमालय और तिब्बत की समझ को नया रूप दिया। मुख्यतः हिमालयी सीमा–समुदायों से आए इन लोगों ने आधुनिक सर्वेक्षण कौशल को भू–दृश्यों, भाषाओं, व्यापार मार्गों और रीति–रिवाजों के गहन स्थानीय ज्ञान के साथ जोड़ा। यह अनूठा मिश्रण उन्हें ऐसे मिशन पूरे करने में सक्षम बनाता था जिन्हें यूरोपीय सर्वेक्षक नहीं कर सकते थे।

नैन सिंह रावत इनमें सबसे प्रसिद्ध थे। वर्तमान उत्तराखंड की जोहार घाटी में जन्मे नैन सिंह को उनकी बुद्धिमत्ता और हिमालयी व्यापार मार्गों की जानकारी के कारण थॉमस जॉर्ज मोंटगोमेरी ने चुना। देहरादून में प्रशिक्षण के बाद उन्होंने बौद्ध लामा (भिक्षु) का वेश धारण कर तिब्बत में प्रवेश किया और गुप्त रूप से उपकरण साथ रखे। 1865–66 में वे ल्हासा पहुँचे, जो अधिकांश विदेशियों के लिए बंद था। वहाँ उन्होंने शहर की ऊँचाई मापी, मठों, बाजारों और सड़कों का मानचित्रण किया तथा त्सांगपो नदी का पता लगाया। उनकी टिप्पणियाँ, जिन्हें प्रार्थना चक्की में छिपाया गया था, तिब्बत पर सबसे विश्वसनीय जानकारी साबित हुईं। लगभग 1,200 मील की यात्रा कर उन्होंने सीमांत पर यूरोपीय ज्ञान को बदल दिया और रॉयल जियोग्राफिकल सोसाइटी का Patrons Medal प्राप्त किया।

किशन सिंह रावत, नैन सिंह के चचेरे भाई, ने इस विरासत को आगे बढ़ाया। 1869 से 1882 के बीच उन्होंने व्यापारी और भिक्षु का रूप धारण कर तिब्बत और मध्य एशिया में 4,600 मील से अधिक की यात्रा की। उन्होंने ऊँचे दर्रों को पार किया, घाटियों का मानचित्रण किया और व्यापार मार्गों का दस्तावेजीकरण किया जिन्हें पहले कभी दर्ज नहीं किया गया था। त्सांगपो नदी पर उनके अवलोकनों ने उन्नीसवीं सदी की सबसे बड़ी भौगोलिक पहेलियों में से एक को सुलझाने में मदद की। कठोर सर्दियों, भूख, बीमारी और स्थानीय अधिकारियों के संदेह के बावजूद उन्होंने दृढ़ता दिखाई और रॉयल जियोग्राफिकल सोसाइटी से सम्मान प्राप्त किया। किंटुप की कहानी इसमें सबसे असाधारण है। सिक्किम के एक दर्जी किंटुप को यह साबित करने का कार्य सौंपा गया था कि क्या त्सांगपो नदी ब्रह्मपुत्र में मिलती है। इसके लिए उसे सैकड़ों चिन्हित लकड़ियाँ नदी में छोड़नी थीं ताकि असम में उन्हें पहचाना जा सके। धोखा देकर दासता में बेचे जाने के बावजूद उसने वर्षों तक कठिनाइयाँ झेलीं लेकिन अपना कार्य नहीं छोड़ा। स्वतंत्रता पाने के बाद उसने लगभग 500 लकड़ियाँ काटकर चिन्हित कीं और नदी में छोड़ीं। गलत संचार के कारण लकड़ियों का पता नहीं लगाया जा सका और प्रयोग

वैज्ञानिक रूप से असफल रहा। फिर भी उसका साहस और दृढ़ता हिमालयी अन्वेषण की सबसे प्रेरणादायक घटनाओं में से एक बनी रही।

अन्य व्यक्तित्व जैसे मणि सिंह, हरी राम और शरत चंद्र दास ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिए। मणि सिंह ने तिब्बत के व्यापार मार्गों का मानचित्रण किया, हरी राम ने पश्चिमी तिब्बत और सतलुज घाटी का अन्वेषण किया, जबकि शरत चंद्र दास ने तिब्बत की भूगोल, मठों, भाषा और समाज का विस्तृत दस्तावेजीकरण किया। मिलकर इन सर्वेक्षकों ने भौगोलिक, सांस्कृतिक और रणनीतिक ज्ञान का ऐसा भंडार तैयार किया जिसने उन्नीसवीं सदी के मानचित्रों की खाली जगहों को भरा और ब्रिटिश सीमांत नीति को दिशा दी। पंडितों की उपलब्धियाँ दर्शाती हैं कि हिमालयी अन्वेषण केवल यूरोपीय साम्राज्यवादी परियोजना नहीं था। यह भारतीय अन्वेषकों की कहानी भी थी जिनके साहस, ज्ञान और वैज्ञानिक अनुशासन ने दुनिया के सबसे कठिन पर्वतीय क्षेत्रों में सटीक मानचित्रण को संभव बनाया। उनकी विरासत यह सिद्ध करती है कि हिमालयी मानचित्रण का इतिहास उतना ही स्वदेशी ज्ञान और मानवीय दृढ़ता का परिणाम है जितना कि वैज्ञानिक सर्वेक्षण का।

भारतीय पंडितों की विरासत का पुनर्मूल्यांकन : मानचित्रण, स्वदेशी ज्ञान और ऐतिहासिक मान्यता

हिमालय के मानचित्रण का इतिहास प्रायः औपनिवेशिक दृष्टिकोण से बताया गया है, जहाँ ब्रिटिश अधिकारियों और संस्थानों को अधिकांश श्रेय दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि तिब्बत और हिमालय में ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे की सफलता भारतीय पंडित सर्वेक्षकों पर अत्यधिक निर्भर थी। उनके स्थानीय ज्ञान, भाषा–कौशल, सांस्कृतिक परिचय और अद्भुत साहस के बिना सटीक मानचित्रों के लिए आवश्यक जानकारी कभी एकत्र नहीं हो पाती। पंडित केवल सहायक नहीं थे, बल्कि वे भौगोलिक ज्ञान के सृजनकर्ता थे। उन्होंने जिस मार्ग पर कदम रखा, जिस दर्रे को दर्ज किया, जिस नदी को मापा और जिस गाँव का वर्णन किया – इन सबने उन्नीसवीं सदी के सबसे कम अन्वेषित क्षेत्रों में से एक की समझ को दुनिया के सामने रखा। उनके कार्य ने अज्ञात स्थानों को मानचित्रित क्षेत्रों में बदल दिया और वैज्ञानिक मानचित्रण तथा हिमालयी सीमांत पर रणनीतिक चिंतन दोनों को आकार दिया।

उनकी उपलब्धियाँ यह भी दर्शाती हैं कि वैज्ञानिक अन्वेषण में स्वदेशी ज्ञान कितना महत्त्वपूर्ण था। पंडित सफल हुए क्योंकि उन्होंने आधुनिक सर्वेक्षण विधियों को हिमालयी समुदायों द्वारा पीढ़ियों से संचित ज्ञान के साथ जोड़ा। भू–दृश्यों, यात्रा मार्गों, भाषाओं, धार्मिक परंपराओं और स्थानीय रीति–रिवाजों की उनकी समझ ने उन्हें उन क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से घूमने की अनुमति दी जहाँ यूरोपीय या तो प्रतिबंधित थे या आसानी से बाहरी के रूप में पहचाने जाते थे। विज्ञान और स्थानीय अनुभव का यह संगम आधुनिक भूगोल में भारतीय ज्ञान के योगदान का सशक्त उदाहरण है। फिर भी, इन उपलब्धियों के बावजूद पंडित मुख्यधारा के इतिहास में लगभग भुला दिए गए हैं। नैन सिंह रावत, किशन सिंह रावत, किंटुप, हरी राम और मणि सिंह जैसे नाम शायद ही कभी विलियम लैम्बटन, जॉर्ज एवरेस्ट या थॉमस जॉर्ज मोंटगोमेरी जैसे प्रसिद्ध ब्रिटिश व्यक्तियों के साथ दिखाई देते हैं। इस असंतुलन ने यह धारणा बना दी कि हिमालय का मानचित्रण लगभग पूरी तरह ब्रिटिश उपलब्धि थी, जबकि वास्तव में यह एक सहयोगी प्रयास था जिसमें भारतीय सर्वेक्षकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। पंडितों को मान्यता देना ब्रिटिश वैज्ञानिक उपलब्धियों या ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे में प्रशासकों की भूमिका को नकारना नहीं है। बल्कि इसका अर्थ है हिमालयी मानचित्रण का एक अधिक संपूर्ण और न्यायसंगत इतिहास प्रस्तुत करना। सर्वे की दृष्टि और विधियाँ हिमालय में इसलिए सफल हुईं क्योंकि उन्हें पंडितों के ज्ञान, अनुभव और साहस का सहारा मिला। हिमालयी मानचित्रण का इतिहास उनके प्रमुख योगदान को स्वीकार किए बिना सही रूप से समझा ही नहीं जा सकता।

निष्कर्ष

रियाज डीन की मैपिंग द ग्रेट गेम हिमालयी अन्वेषण के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है क्योंकि यह भारतीय पंडित सर्वेक्षकों और उनकी उपलब्धियों पर ध्यान केंद्रित करती है। विस्तृत अभिलेखीय शोध के माध्यम से डीन ने दिखाया कि तिब्बत और हिमालयी सीमांत का मानचित्रण केवल ब्रिटिश अन्वेषकों का कार्य नहीं था। यह एक असाधारण समूह भारतीय सर्वेक्षकों पर भी निर्भर था जिनकी बहादुरी, वैज्ञानिक कौशल और स्थानीय ज्ञान ने उन्हें उन स्थानों तक पहुँचने में सक्षम बनाया जहाँ यूरोपीय नहीं जा सकते थे। उनका कार्य हिमालयी मानचित्रण के इतिहास में एक बड़ी कमी को पूरा करता है। ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे ने आधिकारिक ढाँचा और वैज्ञानिक विधियाँ प्रदान कीं, लेकिन हिमालय के अज्ञात स्थानों को विश्वसनीय मानचित्रों में बदलने वाली वास्तविक जानकारी मुख्यतः पंडितों के अवलोकनों और यात्राओं से आई। उनका कार्य दर्शाता है कि मानचित्रण एक सहयोगी प्रयास था जिसमें स्वदेशी विशेषज्ञता अनिवार्य थी।

पंडितों की उपलब्धियाँ भारतीय ज्ञान प्रणाली के मूल्य को भी उजागर करती हैं। हिमालयी भू–दृश्यों, भाषाओं, व्यापार मार्गों और सांस्कृतिक परंपराओं की उनकी गहन समझ, जब आधुनिक सर्वेक्षण तकनीकों के साथ जुड़ी, तो यह दिखाती है कि स्थानीय ज्ञान और विज्ञान ने मिलकर दुनिया के सबसे कठिन पर्वतीय क्षेत्रों का अन्वेषण संभव बनाया। उनकी सफलता केवल तकनीकी प्रशिक्षण से नहीं आई, बल्कि पीढ़ियों के अनुभव से आई जिसे कोई उपकरण प्रतिस्थापित नहीं कर सकता था। इसके बावजूद, पंडितों को मुख्यधारा के इतिहास में बहुत कम मान्यता मिली है। उनके योगदान अक्सर ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे की संस्थागत कहानी और ब्रिटिश अधिकारियों की प्रसिद्धि से ढक जाते

हैं। हिमालयी मानचित्रण की अधिक न्यायसंगत समझ के लिए आवश्यक है कि पंडितों को भारत की उत्तरी सीमाओं के मानचित्रण में महत्त्वपूर्ण योगदानकर्ताओं के रूप में स्वीकार किया जाए। पंडितों को मान्यता देना केवल भूले हुए व्यक्तियों को याद करना नहीं है, बल्कि भारत की वैज्ञानिक और बौद्धिक विरासत के उपेक्षित हिस्से को पुनर्स्थापित करना है। उनकी कहानी दिखाती है कि मानचित्रण केवल तकनीकी उपलब्धि नहीं था, बल्कि साहस, सांस्कृतिक समझ और स्वदेशी ज्ञान से आकार लिया हुआ मानवीय प्रयास भी था। जैसे–जैसे हम अपनी ऐतिहासिक विरासत का पुनर्मूल्यांकन करेंगे उसी रूप में नैन सिंह रावत, किशन सिंह रावत, किंटुप, हरी राम, मणि सिंह और अन्य पंडित सर्वेक्षकों जैसे व्यक्तित्व को भारत की मानचित्रण विरासत के अनसुने निर्माताओं के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए, जिनके योगदान आज भी हमारी हिमालय की समझ को आकार देते हैं।

★★★

हितोपदेश की नीति–दृष्टि एवं वर्तमान बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था

डॉ. दीपिका गुप्ता
असिस्टेंट प्रोफेसर
लोक प्रशासन विभाग, वीर नर्मद साउथ गुजरात यूनिवर्सिटी, सूरत
E-mail : deepikaguptaji20@gmail.com

सार

भारतीय ज्ञान परंपरा में नीति, कूटनीति एवं राज्य–व्यवस्था संबंधी विचार केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि अत्यंत व्यवहारिक एवं रणनीतिक रहे हैं। हितोपदेश ऐसा ही एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें मित्रता, शक्ति–संतुलन, संधि, संघर्ष, राजनीतिक व्यवहार एवं रणनीतिक बुद्धिमत्ता जैसे तत्व कथाओं एवं नीति–वचनों के माध्यम से प्रस्तुत किए गए हैं। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य हितोपदेश की नीति–दृष्टि का वर्तमान बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था के संदर्भ में विश्लेषण करना है। आज की वैश्विक राजनीति, जो शक्ति–संतुलन, सामरिक प्रतिस्पर्धा, क्षेत्रीय गठबंधनों एवं बहुस्तरीय कूटनीति से प्रभावित है, उसमें प्राचीन भारतीय नीति चिंतन नई वैचारिक संभावनाएँ प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन विशेष रूप से इस प्रश्न की पड़ताल करता है कि हितोपदेश में निहित कूटनीतिक बुद्धि एवं व्यवहारिक नीति–दृष्टि समकालीन अंतरराष्ट्रीय संबंधों और भू–राजनीतिक परिवर्तनों को समझने में किस प्रकार प्रासंगिक हो सकती है।

मुख्य शब्द : हितोपदेश, भारतीय ज्ञान परंपरा, कूटनीति, भू–राजनीति, नीति–दृष्टि, वैश्विक राजनीति

प्रस्तावना

21वीं शताब्दी की वैश्विक राजनीति तीव्र संरचनात्मक परिवर्तनों एवं शक्ति–पुनर्संतुलन के दौर से गुजर रही है। शीत युद्धोत्तर एकध्रुवीय विश्व व्यवस्था, जिसमें अमेरिका का प्रभुत्व अपेक्षाकृत निर्विवाद माना जाता था, अब धीरे–धीरे अधिक जटिल, बहुस्तरीय एवं प्रतिस्पर्धात्मक वैश्विक संरचना में परिवर्तित होती दिखाई देती है। अमेरिका, चीन, रूस, भारत तथा विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियों के मध्य बढ़ती रणनीतिक प्रतिस्पर्धा ने अंतरराष्ट्रीय संबंधों को केवल सैन्य शक्ति तक सीमित न रखकर आर्थिक नेटवर्क, समुद्री मार्गों, तकनीकी अवसंरचना, डिजिटल प्रभाव, आपूर्ति–श्रृंखलाओं तथा वैचारिक विश्वसनीयता तक विस्तृत कर दिया है। समकालीन विश्व व्यवस्था में शक्ति का स्वरूप भी व्यापक रूप से परिवर्तित हुआ है। प्रभाव अब केवल प्रत्यक्ष सैन्य क्षमता से निर्मित नहीं होता, बल्कि विकास–सहयोग, तकनीकी पहुँच, वैश्विक नैरेटिव, आर्थिक साझेदारियों तथा क्षेत्रीय विश्वसनीयता से भी निर्मित होता है। जोसेफ नाई (2004) द्वारा प्रतिपादित "मृदु शक्ति" की अवधारणा इसी बदलते वैश्विक परिदृश्य को रेखांकित करती है, जहाँ आकर्षण, वैधता एवं सांस्कृतिक प्रभाव भी शक्ति के महत्त्वपूर्ण स्रोत बन चुके हैं। ऐसे परिवर्तित वैश्विक संदर्भ में अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन की पारंपरिक पश्चिम–केंद्रित सीमाएँ भी प्रश्नों के घेरे में आती दिखाई देती हैं। यह अनुभव किया जाने लगा है कि आधुनिक भू–राजनीति, कूटनीति एवं शक्ति–संबंधों को समझने के लिए गैर–पश्चिमी ज्ञान परंपराओं एवं वैचारिक स्रोतों की भी पुनर्व्याख्या आवश्यक है। विशेष रूप से एशियाई एवं भारतीय बौद्धिक परंपराएँ राजनीति एवं राज्य–व्यवस्था को केवल शक्ति–संघर्ष के रूप में नहीं, बल्कि व्यवहारिक बुद्धिमत्ता, संतुलन, नैतिकता एवं संबंध–निर्माण की संयुक्त प्रक्रिया के रूप में देखने का प्रयास करती हैं।

भारतीय ज्ञान परंपरा में महाभारत, रामायण, अर्थशास्त्र, पंचतंत्र तथा हितोपदेश जैसे ग्रंथ केवल साहित्यिक या नैतिक आख्यान नहीं हैं, बल्कि वे शासन, नेतृत्व, कूटनीति, रणनीतिक व्यवहार एवं मानव–स्वभाव की जटिलताओं को भी अभिव्यक्त करते हैं। विशेष रूप से हितोपदेश, जिसे नारायण पंडित द्वारा रचित माना जाता है, नीति, व्यवहारिक बुद्धिमत्ता, मित्रता, संकट–प्रबंधन, नेतृत्व एवं शक्ति–संतुलन के अनेक आयामों को कथात्मक शैली में प्रस्तुत करता है। इसकी कथाएँ केवल नैतिक उपदेश नहीं देतीं, बल्कि वे राजनीतिक व्यवहार एवं रणनीतिक निर्णय–प्रक्रिया की व्यवहारिक समझ भी विकसित करती हैं। ग्रंथ का यह प्रसिद्ध श्लोक इसकी नीति–दृष्टि को स्पष्ट करता है

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

यद्यपि यह श्लोक व्यापक भारतीय दार्शनिक परंपरा से जुड़ा है, किंतु हितोपदेश की समग्र दृष्टि भी संबंधों, संतुलन एवं व्यवहारिक बुद्धिमत्ता पर आधारित दिखाई देती है।

वर्तमान वैश्विक राजनीति में क्षेत्रीय शक्ति–संतुलन, रणनीतिक स्वायत्तता, आर्थिक निर्भरता, समुद्री प्रतिस्पर्धा एवं तकनीकी प्रभाव के नए आयाम उभर रहे हैं। दक्षिण एशिया, हिंद महासागर क्षेत्र

तथा इंडो–पैसिफिक की बदलती भू–राजनीति इस परिवर्तन को और अधिक स्पष्ट करती है। छोटे एवं मध्यम राष्ट्र भी अब केवल निष्क्रिय इकाइयों के रूप में कार्य नहीं कर रहे, बल्कि वे बहुआयामी रणनीतिक सहभागिताओं के माध्यम से अपनी राजनीतिक एवं आर्थिक स्वायत्तता को सुरक्षित रखने का प्रयास कर रहे हैं। इसी संदर्भ में हितोपदेश की नीति–दृष्टि समकालीन वैश्विक राजनीति को समझने हेतु एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक आधार प्रदान करती है। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य हितोपदेश में निहित रणनीतिक चेतना, व्यवहारिक नीति, शक्ति–संतुलन एवं कूटनीतिक बुद्धिमत्ता का समकालीन वैश्विक एवं क्षेत्रीय राजनीति के संदर्भ में विश्लेषण करना है। यह अध्ययन विशेष रूप से इस प्रश्न की पड़ताल करता है कि भारतीय नीति–चिंतन आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों, क्षेत्रीय शक्ति–संतुलन तथा सहयोगात्मक कूटनीति को समझने में किस प्रकार प्रासंगिक सिद्ध हो सकता है।

सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए केवल पश्चिमी सिद्धांतों पर निर्भर रहना अब पर्याप्त नहीं माना जाता। बदलती वैश्विक परिस्थितियों में गैर–पश्चिमी ज्ञान परंपराओं एवं वैचारिक स्रोतों को भी अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। इसी संदर्भ में भारतीय ज्ञान परंपरा विशेष महत्व रखती है। हितोपदेश जैसे नीति–ग्रंथ केवल नैतिक शिक्षाओं तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे सत्ता–संबंध, रणनीतिक व्यवहार, मानव–प्रकृति तथा राजनीतिक विवेक के गहन आयामों को भी प्रस्तुत करते हैं। अध्ययन का सैद्धांतिक आधार मुख्यतः यथार्थवाद, शक्ति–संतुलन, रणनीतिक व्यवहार तथा सॉफ्ट पावर जैसी अवधारणाओं पर आधारित है। यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार अंतरराष्ट्रीय राजनीति का मूल आधार राष्ट्रीय हित, सुरक्षा एवं प्रभाव–संतुलन है। मोर्गेंथाऊ तथा केनेथ वॉल्ट्ज जैसे विद्वानों ने स्पष्ट किया कि वैश्विक राजनीति में नैतिक आदर्शों की अपेक्षा शक्ति एवं हित अधिक निर्णायक भूमिका निभाते हैं। हितोपदेश की नीति–दृष्टि भी राजनीति को व्यवहारिक रूप में देखती है, जहाँ संबंध स्थायी न होकर परिस्थितियों एवं हितों के अनुसार परिवर्तित होते हैं। इस प्रकार इसकी अनेक अवधारणाएँ आधुनिक रणनीतिक यथार्थवाद से साम्य रखती दिखाई देती हैं।

शक्ति–संतुलन की अवधारणा भी इस अध्ययन में महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान वैश्विक राजनीति में छोटे एवं मध्यम राष्ट्र बड़ी शक्तियों के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए अपनी रणनीतिक स्वायत्तता बनाए रखने का प्रयास करते हैं। दक्षिण एशिया में भी श्रीलंका, नेपाल, मालदीव एवं बांग्लादेश जैसे राष्ट्र बहुआयामी साझेदारियों के माध्यम से आर्थिक एवं रणनीतिक विकल्पों का विस्तार कर रहे हैं। हितोपदेश की नीति–दृष्टि भी अत्यधिक निर्भरता की अपेक्षा संतुलित संबंधों, सतर्कता एवं विवेकपूर्ण सहभागिता को अधिक स्थिर मानती है। इसके अतिरिक्त यह अध्ययन सॉफ्ट पावर की अवधारणा से भी जुड़ता है। आधुनिक वैश्विक राजनीति में प्रभाव केवल सैन्य या आर्थिक क्षमता से निर्मित नहीं होता, बल्कि वैचारिक विश्वसनीयता, सांस्कृतिक उपस्थिति एवं बौद्धिक आकर्षण भी प्रभाव निर्माण के महत्त्वपूर्ण साधन बन चुके हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा एवं उसके नीति–ग्रंथ भारत की इसी सभ्यतागत एवं वैचारिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः यह शोध हितोपदेश को केवल साहित्यिक अथवा नैतिक ग्रंथ के रूप में नहीं, बल्कि रणनीतिक सोच, संबंध–निर्माण तथा राजनीतिक व्यवहार की एक व्यवहारिक परंपरा के रूप में देखने का प्रयास करता है।

साहित्य समीक्षा

भारतीय राजनीतिक चिंतन एवं कूटनीति पर अनेक विद्वानों ने कार्य किया है। रोजर बोएशे (2002) ने कौटिल्य को प्रारंभिक राजनीतिक यथार्थवादियों में स्थान देते हुए भारतीय रणनीतिक चिंतन की व्यवहारिक प्रकृति को रेखांकित किया है। जोसेफ नाई (2004) ने आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों में "मृदु शक्ति" की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया कि प्रभाव केवल सैन्य शक्ति से निर्मित नहीं होता, बल्कि वैधता, आकर्षण एवं विश्वसनीयता भी महत्त्वपूर्ण होती है। अमिताभ आचार्य (2014) ने "वैश्विक अंतर्राष्ट्रीय संबंध" के माध्यम से यह तर्क दिया कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में गैर–पश्चिमी वैचारिक परंपराओं को भी उचित स्थान मिलना चाहिए। इसी प्रकार एस. जयशंकर (2020) ने भारत की समकालीन विदेश नीति को रणनीतिक स्वायत्तता, बहुस्तरीय सहभागिता एवं क्षेत्रीय संतुलन के संदर्भ में समझाने का प्रयास किया है। हालाँकि हितोपदेश पर मुख्यतः साहित्यिक एवं नैतिक अध्ययन हुए हैं, किंतु इसके कूटनीतिक एवं भू–राजनीतिक आयामों पर अपेक्षाकृत कम कार्य दिखाई देता है।

हितोपदेश की नीति–दृष्टि : व्यवहारिक बुद्धिमत्ता और शक्ति–संतुलन

हितोपदेश का मूल स्वर आदर्शवादी राजनीति की अपेक्षा व्यवहारिक राजनीति की ओर अधिक उन्मुख दिखाई देता है। यह ग्रंथ मानवीय व्यवहार, सत्ता–संबंध, नेतृत्व, कूटनीति तथा रणनीतिक निर्णय–प्रक्रिया को अत्यंत व्यावहारिक दृष्टि से प्रस्तुत करता है। इसमें मित्रता, सहयोग, संघर्ष एवं राजनीतिक संबंधों को स्थायी न मानकर परिस्थितियों, हितों तथा व्यवहार पर आधारित माना गया है। इसी कारण हितोपदेश की नीति–दृष्टि आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी स्वरूप से अनेक स्तरों पर साम्य रखती प्रतीत होती है। ग्रंथ

में कहा गया है :

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।

व्यवहारेण जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा।।

अर्थात् न कोई स्थायी मित्र होता है और न स्थायी शत्रुय व्यवहार एवं परिस्थितियाँ ही संबंधों को निर्धारित करती हैं। यह दृष्टिकोण समकालीन अंतरराष्ट्रीय संबंधों की उस वास्तविकता को प्रतिबिंबित करता है, जहाँ राष्ट्र स्थायी वैचारिक प्रतिबद्धताओं की अपेक्षा रणनीतिक हितों के आधार पर साझेदारियाँ निर्मित करते हैं। वर्तमान वैश्विक राजनीति में बदलते गठबंधन, सामरिक सहयोग एवं क्षेत्रीय समीकरण इसी व्यवहारिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हैं।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था मूलतः अराजक होती है, जहाँ प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा, प्रभाव एवं राष्ट्रीय हितों की रक्षा हेतु कार्य करता है। मोर्गेंथाऊ तथा केनेथ वॉल्ट्ज जैसे विद्वानों ने शक्ति एवं हित को अंतरराष्ट्रीय राजनीति का केंद्रीय तत्व माना है। हितोपदेश की नीति–दृष्टि भी राजनीति को नैतिक आदर्शवाद की अपेक्षा व्यवहारिक विवेक एवं रणनीतिक सतर्कता के माध्यम से समझने का प्रयास करती है। इसमें संकट–प्रबंधन, धैर्य, रणनीतिक निर्णय तथा परिस्थिति–अनुकूल व्यवहार को विशेष महत्त्व दिया गया है।

इसी प्रकार शक्ति–संतुलन की अवधारणा भी हितोपदेश की नीति–दृष्टि में अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान दिखाई देती है। वर्तमान वैश्विक राजनीति में छोटे एवं मध्यम राष्ट्र बड़ी शक्तियों के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए अपनी रणनीतिक स्वायत्तता बनाए रखने का प्रयास करते हैं। दक्षिण एशिया में श्रीलंका, नेपाल, मालदीव एवं बांग्लादेश जैसे राष्ट्र विभिन्न शक्तियों के साथ बहुआयामी संबंध विकसित करते हुए संतुलनकारी नीति अपनाते दिखाई देते हैं। यह प्रवृत्ति दर्शाती है कि समकालीन क्षेत्रीय राजनीति केवल प्रभुत्व पर आधारित नहीं रही, बल्कि रणनीतिक विकल्पों एवं संतुलित सहभागिता पर भी आधारित होती जा रही है।

हितोपदेश की नीति–दृष्टि व्यवहारिक संतुलन एवं रणनीतिक विवेक को महत्त्व देती है। यह संकेत देती है कि अत्यधिक निर्भरता, असंतुलित संबंध अथवा अविवेकपूर्ण राजनीतिक निर्णय दीर्घकालिक अस्थिरता का कारण बन सकते हैं। इसके विपरीत, संतुलित संबंध, सतर्क सहभागिता एवं परिस्थिति–अनुकूल रणनीति स्थायी राजनीतिक स्थिरता एवं प्रभाव का आधार बनते हैं। इसी कारण हितोपदेश को केवल नैतिक कथा–साहित्य के रूप में नहीं, बल्कि व्यवहारिक राजनीतिक बुद्धिमत्ता एवं रणनीतिक चिंतन के एक महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में भी देखा जा सकता है।

कूटनीति, संवाद और क्षेत्रीय विश्वसनीयता

समकालीन वैश्विक राजनीति में कूटनीति का स्वरूप व्यापक रूप से परिवर्तित हुआ है। आज प्रभाव केवल सैन्य शक्ति अथवा आर्थिक क्षमता से निर्मित नहीं होता, बल्कि संवाद–आधारित सहभागिता, विकास–सहयोग, तकनीकी पहुँच, मानवीय सहायता तथा क्षेत्रीय विश्वसनीयता भी प्रभाव निर्माण के महत्त्वपूर्ण आधार बन चुके हैं। आधुनिक कूटनीति अब केवल औपचारिक राज्य–स्तरीय वार्ताओं तक सीमित नहीं रही, बल्कि सार्वजनिक संवाद, मीडिया नैरेटिव, डिजिटल उपस्थिति एवं मानवीय सहयोग भी इसके प्रमुख आयाम बन गए हैं।

हितोपदेश की नीति–दृष्टि में भी प्रत्यक्ष संघर्ष की अपेक्षा विवेकपूर्ण संवाद, धैर्य एवं परिस्थितिनिष्ठ व्यवहार को अधिक महत्त्व दिया गया है। ग्रंथ यह संकेत देता है कि दीर्घकालिक स्थिरता केवल शक्ति–प्रदर्शन से नहीं, बल्कि संबंध–निर्माण, विश्वास एवं व्यवहारिक बुद्धिमत्ता से निर्मित होती है। यही कारण है कि हितोपदेश की अनेक कथाएँ संवाद, सावधानी एवं रणनीतिक संयम को राजनीतिक सफलता का आधार मानती हैं।

समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति में भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। राष्ट्र अब केवल शक्ति–संतुलन की राजनीति तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे विकास–साझेदारी, मानवीय सहायता एवं तकनीकी सहयोग के माध्यम से अपनी क्षेत्रीय स्वीकार्यता को सुदृढ़ करने का प्रयास कर रहे हैं। कोविड–19 महामारी के दौरान भारत की "वैक्सीन मैत्री" पहल, आपदा–राहत सहयोग तथा पड़ोसी देशों को दी गई मानवीय सहायता ने क्षेत्रीय कूटनीति को मानवीय एवं सहयोगात्मक स्वरूप प्रदान किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान समय में विश्वसनीयता एवं उत्तरदायित्व भी क्षेत्रीय प्रभाव के महत्त्वपूर्ण स्रोत बन चुके हैं।

इसी प्रकार डिजिटल माध्यम, मीडिया विमर्श एवं तकनीकी अवसंरचना आज क्षेत्रीय प्रभाव निर्माण के नए उपकरणों के रूप में उभर रहे हैं। जिन राष्ट्रों की तकनीकी पहुँच, संचार–क्षमता एवं सार्वजनिक उपस्थिति अधिक प्रभावी है, वे क्षेत्रीय विमर्शों एवं राजनीतिक नैरेटिव को अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रभावित करने की स्थिति में दिखाई देते हैं। इस प्रकार समकालीन कूटनीति पारंपरिक राज्य–कला से आगे बढ़कर "कथा–निर्माण" एवं "धारणा प्रबंधन" का भी महत्त्वपूर्ण माध्यम बन चुकी है।

हितोपदेश की नीति–दृष्टि इस संदर्भ में यह संकेत देती है कि स्थायी नेतृत्व केवल प्रभुत्व अथवा भय से निर्मित नहीं होता, बल्कि संवाद, विश्वास, संतुलित व्यवहार एवं सहयोगात्मक सहभागिता से निर्मित होता है। समकालीन क्षेत्रीय राजनीति में भी वही राष्ट्र अधिक विश्वसनीय माने जाते हैं, जो शक्ति–प्रदर्शन के साथ–साथ उत्तरदायित्व, संवेदनशीलता एवं दीर्घकालिक सहयोग की क्षमता भी प्रदर्शित करते हैं। इसी कारण हितोपदेश की कूटनीतिक दृष्टि आधुनिक क्षेत्रीय एवं वैश्विक राजनीति को समझने के लिए आज भी प्रासंगिक प्रतीत होती है।

भारतीय ज्ञान परंपरा और समकालीन वैश्विक राजनीति

भारतीय ज्ञान परंपरा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि उसने राजनीति एवं राज्य–व्यवस्था को केवल शक्ति–संघर्ष के रूप में नहीं देखा, बल्कि नैतिकता, व्यवहारिकता, संतुलन एवं सामाजिक उत्तरदायित्व के संयुक्त स्वरूप में समझने का प्रयास किया। भारतीय चिंतन परंपरा में शक्ति का उद्देश्य केवल प्रभुत्व स्थापित करना नहीं, बल्कि स्थिरता, संतुलन एवं सामूहिक व्यवस्था को बनाए रखना भी माना गया है। यही कारण है कि भारतीय नीति–ग्रंथों में कूटनीति, नेतृत्व, संवाद एवं रणनीतिक व्यवहार को नैतिक संवेदनशीलता के साथ जोड़ा गया है।

महाभारत, अर्थशास्त्र, पंचतंत्र एवं हितोपदेश जैसे ग्रंथ यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय राजनीतिक चिंतन अत्यंत व्यवहारिक होते हुए भी पूर्णतः शक्ति–केंद्रित नहीं है। इसमें संबंध–निर्माण, संतुलित सहभागिता, परिस्थितिनिष्ठ निर्णय तथा दीर्घकालिक स्थिरता को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान परंपरा आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति के लिए एक वैकल्पिक वैचारिक आधार प्रस्तुत करती है, जो केवल संघर्ष एवं प्रभुत्व की राजनीति तक सीमित नहीं है। समकालीन वैश्विक राजनीति में भी यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि राष्ट्र अब पूर्ण निर्भरता की अपेक्षा "रणनीतिक लचीलापन" एवं बहुआयामी सहभागिता को प्राथमिकता दे रहे हैं। छोटे एवं मध्यम राष्ट्र विभिन्न शक्तियों के साथ संबंध स्थापित करते हुए अपने आर्थिक एवं सामरिक विकल्पों का विस्तार कर रहे हैं। दक्षिण एशिया एवं हिंद–प्रशांत क्षेत्र की राजनीति इस प्रवृत्ति का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

ऐसे परिवर्तित वैश्विक परिदृश्य में भारतीय ज्ञान परंपरा का पुनर्पाठ विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाता है। हितोपदेश की नीति–दृष्टि यह संकेत देती है कि स्थायी प्रभाव केवल शक्ति–प्रदर्शन अथवा आर्थिक प्रभुत्व से निर्मित नहीं होता, बल्कि विश्वास, संतुलन, विश्वसनीयता एवं दीर्घकालिक सहयोग से निर्मित होता है। यह दृष्टिकोण आधुनिक क्षेत्रीय कूटनीति एवं सहयोगात्मक नेतृत्व की अवधारणा से निकटता रखता है। भारत स्वयं भी वर्तमान वैश्विक राजनीति में "ग्लोबल साउथ" की एक महत्त्वपूर्ण आवाज के रूप में उभरने का प्रयास कर रहा है। रणनीतिक स्वायत्तता, विकास–साझेदारी, मानवीय सहयोग एवं बहुपक्षीय सहभागिता भारत की समकालीन विदेश नीति के प्रमुख आयाम बन चुके हैं। किंतु यदि भारत क्षेत्रीय एवं वैश्विक स्तर पर दीर्घकालिक विश्वसनीय नेतृत्व स्थापित करना चाहता है, तो उसे सहयोगात्मक एवं संवेदनशील कूटनीति को प्राथमिकता देनी होगी। इस संदर्भ में भारतीय ज्ञान परंपरा केवल सांस्कृतिक विरासत का विषय नहीं रह जाती, बल्कि वह समकालीन अंतरराष्ट्रीय संबंधों एवं भू–राजनीति को समझने हेतु एक जीवंत वैचारिक स्रोत के रूप में उभरती है। हितोपदेश की नीति–दृष्टि आधुनिक विश्व व्यवस्था को यह संकेत देती है कि प्रभाव एवं नेतृत्व की स्थिरता अंततः संवाद, संतुलन, विश्वसनीयता एवं व्यवहारिक बुद्धिमत्ता पर ही आधारित होती है।

उपसंहार

समकालीन वैश्विक राजनीति तीव्र शक्ति–प्रतिस्पर्धा, आर्थिक परस्पर–निर्भरता, तकनीकी प्रभाव तथा क्षेत्रीय पुनर्संतुलन के दौर से गुजर रही है। ऐसी परिस्थितियों में अंतरराष्ट्रीय संबंधों को केवल पारंपरिक पश्चिमी सिद्धांतों के माध्यम से समझना पर्याप्त प्रतीत नहीं होता। यह आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि गैर–पश्चिमी ज्ञान परंपराओं एवं वैचारिक स्रोतों को भी समकालीन भू–राजनीतिक विमर्श में गंभीरता से पुनर्पाठित किया जाए। भारतीय ज्ञान परंपरा इसी संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

हितोपदेश यद्यपि मूलतः एक नीति–कथा ग्रंथ है, किंतु उसके भीतर निहित राजनीतिक चेतना, व्यवहारिक बुद्धिमत्ता, शक्ति–संतुलन, संवाद, रणनीतिक सतर्कता तथा संबंध–निर्माण की अवधारणाएँ आज भी उल्लेखनीय रूप से प्रासंगिक दिखाई देती हैं। यह ग्रंथ राजनीति को केवल आदर्शवाद अथवा नैतिक उपदेशों तक सीमित नहीं रखता, बल्कि परिस्थितिनिष्ठ निर्णय, व्यवहारिक विवेक एवं दीर्घकालिक स्थिरता की आवश्यकता को भी रेखांकित करता है। समकालीन वैश्विक एवं क्षेत्रीय राजनीति में भी यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि स्थायी प्रभाव केवल सैन्य शक्ति अथवा आर्थिक निवेश से निर्मित नहीं होता। आज विश्वसनीयता, उत्तरदायित्व, विकास–साझेदारी, संवाद एवं संतुलित व्यवहार भी नेतृत्व के महत्त्वपूर्ण आधार बन चुके हैं। दक्षिण एशिया की राजनीति यह संकेत देती हैं कि अत्यधिक निर्भरता दीर्घकालिक असंतुलन उत्पन्न कर सकती है, जबकि विश्वसनीय एवं सहयोगात्मक साझेदारी अधिक स्थायी राजनीतिक विश्वास का निर्माण करती है। इस संदर्भ में भारत की क्षेत्रीय भूमिका भी विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाती है। यदि भारत स्वयं को ग्लोबल साउथ की एक विश्वसनीय आवाज एवं क्षेत्रीय नेतृत्वकारी शक्ति के रूप में स्थापित करना चाहता है, तो उसे सहयोगात्मक, संवेदनशील एवं उत्तरदायी कूटनीति को प्राथमिकता देनी होगी। नेतृत्व की स्थिरता अंततः प्रभुत्व से नहीं, बल्कि विश्वास–निर्माण, संतुलित सहभागिता एवं दीर्घकालिक विश्वसनीयता से निर्मित होती है।

अतः प्रस्तुत अध्ययन यह निष्कर्ष स्थापित करता है कि हितोपदेश केवल अतीत का साहित्यिक ग्रंथ नहीं, बल्कि समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति, क्षेत्रीय कूटनीति एवं रणनीतिक व्यवहार को समझने का एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक स्रोत भी है। भारतीय ज्ञान परंपरा का पुनर्पाठ न केवल वैश्विक राजनीति की समझ को अधिक बहुआयामी बनाता है, बल्कि यह भी संकेत देता है कि भविष्य की विश्व व्यवस्था में स्थायी नेतृत्व शक्ति और नैतिक विश्वसनीयता दोनों के संतुलन पर आधारित होगा।

संदर्भ सूची

Acharya, A. (2014) – "The End of American World Order", Polity Press

Boesche, R. (2002) – "The First Great Political Realist: Kautilya and His Arthashastra", Lexington Books

Jaishankar, S. (2020) – "The India Way: Strategies for an Uncertain World", Harper Collins India

Kaplan, R. D. (2010) – "Monsoon: The Indian Ocean and the Future of American Power", Random House

Melissen, J. (2005) – "The New Public Diplomacy: Soft Power in International Relations", Palgrave Macmillan Narayana Pandita – "Hitopadesha" Various Editions

Nye, J. S. (2004) – "Soft Power: The Means to Success in World Politics", Public Affairs

Tharoor, S. (2012) – "Pax Indica: India and the World of the 21st Century", Penguin Books

लेखकों से निवेदन

भाषा, साहित्य, समाज, विज्ञान एवं संस्कृति पर लिखी गयी स्तरीय मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाएं भेजें। रचनाएँ हिंदी यूनिकोड मंगल फान्ट में टंकित होनी चाहिए। लेख के प्रारंभ में लेख का सार अपेक्षित है जो अधिकतम 150 से 200 शब्दों के मध्य हो। सार में लेख लिखने का उद्देश्य अवश्य परिलक्षित होना चाहिए। लेख के अनुरूप 5 से 7 (की वर्ड) (बीज शब्द) भी लिखें। लेख को यथोचित उपशीर्षकों में विभाजित करके लिखें। लेख के अंत में निष्कर्ष अवश्य दें। शब्द सीमा 2000 से 2500 शब्दों की हो। आलेख के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची ए.पी.ए. के प्रारूप में हो। लेख भेजते समय अपने नाम, पता, फोन नंबर एवं लेख का शीर्षक ई–मेल में अवश्य लिखें। इस आशय का एक घोषणा–पत्र प्रस्तुत कर दें कि लेख मौलिक है, अप्रकाशित है, भविष्य में इससे संबंधित किसी भी विवाद के लिए लेखक उत्तरदायी होंगे संपादक मंडल नहीं। रचना के अंत में अपना पूरा डाक पता, मोबाइल नंबर और ई–मेल पता अंकित करें।

– संपादक
सुमित राय
E-mail : anantanaadi26@gmail.com

★ ★ ★

जनजातीय समाज में त्यौहार और उत्सव संबंधी परंपराएँ

राठोड़ मुक्ति शशिकांतभाई
शोधार्थी (हिन्दी विभाग)
वी.एन.द.गु. विश्वविद्यालय, सूरत, गुजरात

प्रस्तावना

भारत विविध संस्कृतियों, परंपराओं और जीवन–शैलियों का देश है। यहाँ अनेक प्रकार की जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनकी अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान, भाषा, विश्वास और जीवन–पद्धति है। जनजातीय समाज का जीवन प्रकृति से गहरे रूप से जुड़ा हुआ है। उनके त्यौहार, उत्सव और परंपराएँ प्रकृति, कृषि, ऋतु परिवर्तन और सामुदायिक जीवन से सीधे जुड़े होते हैं। जनजातीय समाज में त्यौहार केवल मनोरंजन का साधन नहीं होते बल्कि यह सामाजिक एकता, सांस्कृतिक पहचान और धार्मिक विश्वास का महत्वपूर्ण माध्यम होते हैं। इन त्यौहारों के माध्यम से जनजातीय लोग प्रकृति के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं और सामूहिक रूप से आनंद मनाते हैं। भारत की प्रमुख जनजातियों में संथाल, भील, गोंड, मुंडा, उरांव, खासी, नागा, टोड़ा आदि शामिल हैं। इन सभी जनजातियों के अपने–अपने विशेष त्यौहार और उत्सव होते हैं, जिनमें नृत्य, संगीत, पूजा–पाठ और सामूहिक भोज का विशेष महत्व होता है। जनजातीय समाज की संस्कृति अत्यंत समृद्ध और प्राचीन है। यह संस्कृति प्रकृति–पूजा, सामुदायिक जीवन और परंपरागत विश्वासों पर आधारित है।

जनजातीय समाज में त्यौहारों का महत्व

जनजातीय समाज के जीवन में त्यौहारों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। जनजातीय समुदाय का जीवन प्रकृति, कृषि और सामूहिकता पर आधारित होता है, इसलिए उनके त्यौहार भी इन्हीं तत्वों से जुड़े होते हैं। ये त्यौहार केवल मनोरंजन या आनंद के साधन नहीं होते, बल्कि इनके माध्यम से धार्मिक आस्था, सामाजिक संबंध, आर्थिक गतिविधियाँ और सांस्कृतिक परंपराएँ भी मजबूत होती हैं। जनजातीय समाज में त्यौहार सामूहिक जीवन का केंद्र होते हैं। इनके माध्यम से समुदाय के सभी लोग एक साथ आते हैं, अपनी परंपराओं का पालन करते हैं और आने वाली पीढ़ियों को सांस्कृतिक मूल्यों से परिचित कराते हैं। इस दृष्टि से जनजातीय त्यौहारों का महत्व धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक – चारों स्तरों पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

1. धार्मिक महत्व : जनजातीय समाज में त्यौहारों का धार्मिक महत्व अत्यंत गहरा होता है। जनजातीय लोग प्रकृति को ही अपना प्रमुख देवता मानते हैं और प्रकृति के विभिन्न तत्वों की पूजा करते हैं। उनके धार्मिक विश्वासों के अनुसार जंगल, पहाड़, नदी, सूर्य, चंद्रमा, वर्षा और पेड़–पौधे जीवन के आधार हैं, इसलिए इन सबको पवित्र मानकर उनका सम्मान किया जाता है। अनेक जनजातियों में प्रकृति–पूजा की परंपरा बहुत प्राचीन है। वे मानते हैं कि प्रकृति में अनेक अदृश्य शक्तियाँ निवास करती हैं जो मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती हैं। इसलिए त्यौहारों के अवसर पर इन शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए पूजा–अर्चना की जाती है। उदाहरण के लिए कई जनजातियों में साल वृक्ष, करम वृक्ष या अन्य पवित्र वृक्षों की पूजा की जाती है। जनजातीय लोग अपने पूर्वजों की भी पूजा करते हैं। उनका विश्वास है कि पूर्वजों की आत्माएँ उनकी रक्षा करती हैं और उनके जीवन में सुख–समृद्धि लाती हैं। इसलिए त्यौहारों के समय पूर्वजों को स्मरण किया जाता है और उन्हें भोजन या अन्य प्रतीकात्मक अर्पण दिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त सूर्य और चंद्रमा को भी जीवन का आधार माना जाता है। सूर्य को ऊर्जा और प्रकाश का स्रोत समझकर उसकी आराधना की जाती है, जबकि चंद्रमा को शांति और संतुलन का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार जनजातीय त्यौहार धार्मिक विश्वासों और आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण माध्यम होते हैं।

2. सामाजिक महत्व : जनजातीय समाज में त्यौहार सामाजिक जीवन को सुदृढ़ बनाने का एक महत्वपूर्ण साधन हैं। इन उत्सवों के माध्यम से समाज के सभी सदस्य – बच्चे, युवा और बुजुर्ग एक साथ एकत्रित होते हैं और सामूहिक रूप से उत्सव मनाते हैं। इससे समाज में एकता, सहयोग और भाईचारे की भावना मजबूत होती है। जनजातीय समाज में सामूहिकता का विशेष महत्व होता है। त्यौहारों के अवसर पर लोग अपने व्यक्तिगत कार्यों को छोड़कर सामूहिक कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। वे एक साथ नृत्य करते हैं, गीत गाते हैं और सामूहिक भोज का आयोजन करते हैं। इससे समुदाय के बीच पारस्परिक संबंध मजबूत होते हैं और सामाजिक समरसता बनी रहती है। त्यौहारों के दौरान कई सामाजिक परंपराएँ भी निभाई जाती हैं। उदाहरण के लिए कुछ जनजातीय समुदायों में युवक–युवतियों को एक–दूसरे से मिलने और अपने जीवनसाथी का चयन करने का अवसर भी मिलता है। इससे

विवाह संबंध स्थापित होते हैं और समाज की संरचना मजबूत होती है। इसके अतिरिक्त त्यौहारों के समय सामाजिक विवादों को समाप्त करने और आपसी मतभेदों को दूर करने की भी परंपरा होती है। बुजुर्ग लोग समुदाय के लोगों को आपसी प्रेम और सहयोग का संदेश देते हैं। इस प्रकार त्यौहार सामाजिक जीवन में संतुलन और सद्भाव बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

3. आर्थिक महत्व : जनजातीय समाज में त्यौहारों का आर्थिक महत्व भी अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। अधिकांश जनजातीय त्यौहार कृषि कार्यों से जुड़े होते हैं। कृषि उनके जीवन का मुख्य आधार है, इसलिए फसल की बुवाई, वृद्धि और कटाई के समय विशेष उत्सव मनाए जाते हैं। फसल की अच्छी उपज होने पर जनजातीय लोग प्रकृति और देवताओं के प्रति आभार प्रकट करते हैं और उत्सव मनाते हैं। इन अवसरों पर सामूहिक भोज और उत्सवों का आयोजन किया जाता है। इससे समाज में समृद्धि और संतोष की भावना उत्पन्न होती है। त्यौहारों के दौरान स्थानीय बाजारों और मेलों का भी आयोजन किया जाता है। इन मेलों में जनजातीय लोग अपने द्वारा बनाए गए हस्तशिल्प, कृषि उत्पाद और अन्य वस्तुओं का आदान–प्रदान करते हैं। इससे स्थानीय अर्थव्यवस्था को बढ़ावा मिलता है। इसके अतिरिक्त त्यौहारों के अवसर पर पारंपरिक वस्त्र, आभूषण और सजावट की वस्तुओं की भी मांग बढ़ जाती है। इससे स्थानीय कारीगरों और कलाकारों को रोजगार मिलता है। इस प्रकार जनजातीय त्यौहार आर्थिक गतिविधियों को भी प्रोत्साहित करते हैं।

4. सांस्कृतिक संरक्षण : जनजातीय समाज में त्यौहारों का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य उनकी सांस्कृतिक परंपराओं का संरक्षण करना भी है। त्यौहारों के अवसर पर जनजातीय लोग अपनी पारंपरिक संस्कृति को जीवित रखते हैं और उसे अगली पीढ़ी तक पहुँचाते हैं। इन उत्सवों में लोकगीत, लोकनृत्य, पारंपरिक संगीत और वेशभूषा का विशेष महत्व होता है। जनजातीय लोग अपने पारंपरिक वाद्ययंत्रों जैसे ढोल, मांदर, नगाड़ा और बांसुरी के साथ सामूहिक नृत्य करते हैं। ये नृत्य केवल मनोरंजन के लिए नहीं होते, बल्कि इनके माध्यम से उनके इतिहास, विश्वास और जीवन–अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है। त्यौहारों के दौरान पारंपरिक पोशाक और आभूषण भी पहने जाते हैं, जो जनजातीय पहचान का प्रतीक होते हैं। इसके अलावा पारंपरिक भोजन और रीति–रिवाजों का पालन किया जाता है। इससे उनकी सांस्कृतिक पहचान सुरक्षित रहती है। आज के आधुनिक युग में जब बाहरी संस्कृतियों का प्रभाव बढ़ रहा है, तब जनजातीय त्यौहार उनकी सांस्कृतिक अस्मिता को बनाए रखने का महत्वपूर्ण माध्यम बन गए हैं। ये त्यौहार नई पीढ़ी को अपनी जड़ों और परंपराओं से जोड़ते हैं।

जनजातीय त्यौहारों की प्रमुख विशेषताएँ

जनजातीय समाज के त्यौहार उनकी सांस्कृतिक पहचान और जीवन–दृष्टि को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। ये त्यौहार केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं होते, बल्कि इनके माध्यम से जनजातीय समाज का प्रकृति के साथ संबंध, सामूहिक जीवन, सांस्कृतिक परंपराएँ और सामाजिक संरचना भी प्रकट होती है। जनजातीय उत्सवों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे पूरी तरह सामुदायिक और प्रकृति–केंद्रित होते हैं। इन उत्सवों में नृत्य, संगीत, वेशभूषा, भोज और पूजा जैसे कई तत्व शामिल होते हैं, जो जनजातीय जीवन की सरलता और सामूहिकता को व्यक्त करते हैं। निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से जनजातीय त्यौहारों की प्रमुख विशेषताओं को समझा जा सकता है।

प्रकृति–पूजा

जनजातीय समाज के त्यौहारों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता प्रकृति–पूजा है। जनजातीय लोग प्रकृति को जीवन का आधार मानते हैं और जंगल, पहाड़, नदी, पेड़–पौधों तथा सूर्य–चंद्रमा को पवित्र मानकर उनकी पूजा करते हैं। उनके धार्मिक विश्वासों के अनुसार प्रकृति में अनेक दिव्य शक्तियाँ निवास करती हैं, जो मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती हैं। कई जनजातियों में विशेष वृक्षों को पवित्र माना जाता है। उदाहरण के लिए साल, करम या महुआ जैसे वृक्षों की पूजा की जाती है। त्यौहारों के अवसर पर इन वृक्षों के नीचे पूजा–अनुष्ठान किए जाते हैं और उनसे समृद्धि तथा सुख–शांति की कामना की जाती है। इसके अतिरिक्त नदी, पहाड़ और जंगल को भी जीवनदायिनी शक्ति के रूप में देखा जाता है। इसलिए जनजातीय समाज प्रकृति के संरक्षण को भी अपने धार्मिक कर्तव्य के रूप में मानता है। इस प्रकार प्रकृति–पूजा जनजातीय समाज की जीवन–दृष्टि और पर्यावरण के प्रति सम्मान को दर्शाती है।

सामूहिक उत्सव

जनजातीय त्यौहारों की एक अन्य प्रमुख विशेषता उनका सामूहिक स्वरूप है। ये त्यौहार किसी एक व्यक्ति या परिवार तक सीमित नहीं होते, बल्कि पूरे गाँव या समुदाय द्वारा मिलकर मनाए जाते हैं। त्यौहारों के अवसर पर गाँव के सभी लोग – पुरुष, महिलाएँ, बच्चे और बुजुर्ग – एक स्थान पर एकत्रित होते हैं और सामूहिक रूप से पूजा, नृत्य और अन्य कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। इस सामूहिक सहभागिता से समाज में एकता और सहयोग की भावना मजबूत होती है। सामूहिक उत्सवों के दौरान लोग अपने व्यक्तिगत मतभेदों को भुलाकर एक दूसरे

के साथ आनंद साझा करते हैं। इससे सामाजिक संबंधों में मजबूती आती है और समाज में आपसी विश्वास और भाईचारा बढ़ता है। इस प्रकार जनजातीय त्यौहार सामूहिक जीवन की भावना को सुदृढ़ बनाने का महत्वपूर्ण माध्यम होते हैं। करमा उत्सव, सोहराय उत्सव, मागे पर्व, भगोरिया उत्सव जैसे उत्सव भी मनाए जाते है।

लोकनृत्य और संगीत

जनजातीय त्यौहारों में लोकनृत्य और संगीत का विशेष महत्व होता है। यह केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि जनजातीय संस्कृति की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है। त्यौहारों के अवसर पर लोग पारंपरिक वाद्य यंत्रों जैसे ढोल, मांदर, नगाड़ा, बांसुरी और तुरही के साथ नृत्य और गीत प्रस्तुत करते हैं। ये लोकगीत और नृत्य उनके जीवन, प्रकृति, प्रेम, संघर्ष और सामाजिक अनुभवों को व्यक्त करते हैं। नृत्य प्रायः समूह में किया जाता है, जिसमें पुरुष और महिलाएँ एक साथ भाग लेते हैं। नृत्य की लय और ताल सामूहिक उत्साह को बढ़ाती है और पूरे वातावरण को आनंदमय बना देती है। लोकनृत्य और संगीत के माध्यम से जनजातीय समाज अपनी सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखता है और नई पीढ़ी को अपनी परंपराओं से जोड़ता है। इसके अलावा संथाली नृत्य, गोंडी नृत्य, भीली नृत्य, आदिवासी नृत्य किए जाते है।

पारम्परिक वेशभूषा

त्यौहारों के समय जनजातीय समाज में पारंपरिक वेशभूषा का विशेष महत्व होता है। लोग इस अवसर पर अपने पारंपरिक वस्त्र पहनते हैं, जो उनकी सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक गौरव का प्रतीक होते हैं। महिलाएँ प्रायः रंगीन वस्त्र, चाँदी या धातु के आभूषण, मोतियों की माला और अन्य सजावटी वस्तुएँ धारण करती हैं। वहीं पुरुष भी पारंपरिक पोशाक पहनते हैं और कई बार सिर पर विशेष प्रकार का मुकुट या पगड़ी धारण करते हैं। इन पारंपरिक वेशभूषाओं के साथ शरीर पर रंग–रोगन या अलंकरण भी किया जाता है, जो उत्सव की शोभा को बढ़ाता है। पारंपरिक पोशाकों के माध्यम से जनजातीय समाज अपनी सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखता है और अपने गौरवपूर्ण इतिहास का प्रदर्शन करता है।

सामूहिक भोज

जनजातीय त्यौहारों की एक महत्वपूर्ण विशेषता सामूहिक भोज की परंपरा है। उत्सवों के दौरान पूरे समुदाय के लोग मिलकर भोजन तैयार करते हैं और सामूहिक रूप से उसका आनंद लेते हैं। इस भोज में प्रायः स्थानीय कृषि उत्पादों और पारंपरिक व्यंजनों का उपयोग किया जाता है। यह केवल भोजन करने का अवसर नहीं होता, बल्कि सामाजिक मेल–मिलाप और सामुदायिक एकता को मजबूत करने का माध्यम भी होता है। सामूहिक भोज के दौरान सभी लोग बिना किसी भेदभाव के एक साथ बैठकर भोजन करते हैं। इससे समाज में समानता और भाईचारे की भावना का विकास होता है। इस प्रकार सामूहिक भोज जनजातीय समाज की सामूहिक जीवन–पद्धति और सामाजिक समरसता का प्रतीक है।

जनजातीय त्यौहार और प्रकृति

जनजातीय समाज का जीवन प्रकृति के साथ अत्यंत गहरे रूप से जुड़ा हुआ है। उनकी जीवन–शैली, आजीविका, आस्था और संस्कृति सभी प्रकृति पर आधारित होती हैं। जंगल, पहाड़, नदियाँ, वर्षा, सूर्य, चंद्रमा और पशु–पक्षी उनके जीवन के अभिन्न अंग हैं। इसलिए जनजातीय समाज के अधिकांश त्यौहार भी प्रकृति से ही संबंधित होते हैं। जनजातीय समुदायों का यह विश्वास है कि प्रकृति ही जीवन का मूल स्रोत है। प्रकृति के बिना मानव जीवन संभव नहीं है, इसलिए वे प्रकृति को केवल संसाधन के रूप में नहीं बल्कि एक जीवंत और पवित्र शक्ति के रूप में देखते हैं। इसी कारण उनके त्यौहारों में प्रकृति के प्रति सम्मान, कृतज्ञता और संरक्षण की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

वर्षा ऋतु से संबंध

जनजातीय समाज के कई त्यौहार वर्षा ऋतु से जुड़े होते हैं। वर्षा उनके लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि कृषि और जंगलों की समृद्धि वर्षा पर ही निर्भर करती है। अच्छी वर्षा होने पर खेतों में फसल अच्छी होती है और जंगलों में वनस्पतियाँ तथा पशु–पक्षी भी फलते–फूलते हैं। इस कारण जनजातीय समाज वर्षा के आगमन को उत्सव के रूप में मनाता है। कई स्थानों पर वर्षा के लिए विशेष पूजा और अनुष्ठान भी किए जाते हैं। इन अनुष्ठानों के माध्यम से लोग प्रकृति से प्रार्थना करते हैं कि वर्षा समय पर हो और समाज में सुख–समृद्धि

बनी रहे। वर्षा ऋतु के अवसर पर आयोजित त्यौहारों में नृत्य, गीत और सामूहिक पूजा का आयोजन किया जाता है। इससे समाज में उत्साह और आनंद का वातावरण बनता है।

फसल से संबंध

जनजातीय समाज की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि और वन संसाधनों पर आधारित होती है। इसलिए फसल की बुवाई, वृद्धि और कटाई के समय विशेष त्यौहार मनाए जाते हैं। जब फसल तैयार हो जाती है, तब जनजातीय लोग प्रकृति और देवताओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। वे मानते हैं कि प्रकृति की कृपा से ही उन्हें अन्न प्राप्त होता है। इसलिए फसल कटाई के बाद सामूहिक रूप से उत्सव मनाया जाता है। इन अवसरों पर लोग अपने खेतों की उपज का कुछ भाग देवताओं और पूर्वजों को अर्पित करते हैं। इसके बाद सामूहिक भोज और उत्सव का आयोजन किया जाता है। इस प्रकार फसल से जुड़े त्यौहार जनजातीय समाज के जीवन में समृद्धि और संतोष की भावना को व्यक्त करते हैं।

जंगल से संबंध

जंगल जनजातीय समाज के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण आधार है। जंगल उन्हें भोजन, ईंधन, औषधियाँ और आजीविका के अनेक साधन प्रदान करता है। इसलिए जनजातीय लोग जंगल को पवित्र मानते हैं और उसका सम्मान करते हैं। कई जनजातीय त्यौहारों में जंगल के पेड़ों और पौधों की पूजा की जाती है। विशेष रूप से कुछ वृक्षों को अत्यंत पवित्र माना जाता है और उनके नीचे पूजा–अनुष्ठान किए जाते हैं। जंगल के प्रति यह सम्मान केवल धार्मिक आस्था तक सीमित नहीं है, बल्कि इसके माध्यम से पर्यावरण संरक्षण की भावना भी प्रकट होती है। जनजातीय समाज जंगल को अपने परिवार के सदस्य की तरह मानता है और उसकी रक्षा को अपना कर्तव्य समझता है।

पशु–पंक्षियों से संबंध

जनजातीय समाज का जीवन पशु–पक्षियों से भी गहराई से जुड़ा होता है। पशु उनके कृषि कार्यों में सहायक होते हैं और कई प्रकार से उनके जीवन को आसान बनाते हैं। इसलिए कई जनजातीय त्यौहारों में पशुओं का विशेष सम्मान किया जाता है। त्यौहारों के अवसर पर पशुओं को सजाया जाता है, उनकी पूजा की जाती है और उन्हें विशेष भोजन दिया जाता है। यह परंपरा मनुष्य और पशु के बीच सहअस्तित्व और पारस्परिक संबंध को दर्शाती है। इसके अतिरिक्त पक्षियों और अन्य जीवों को भी प्रकृति का महत्वपूर्ण हिस्सा माना जाता है। जनजातीय समाज मानता है कि सभी जीव एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और प्रकृति के संतुलन को बनाए रखने में उनकी भूमिका होती है।

प्रकृति के साथ संतुलित जीवन

जनजातीय त्यौहारों और परंपराओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि जनजातीय समाज प्रकृति के साथ संतुलित और सामंजस्यपूर्ण जीवन जीने में विश्वास करता है। उनके लिए प्रकृति केवल उपयोग की वस्तु नहीं बल्कि एक पवित्र शक्ति है, जिसके साथ संतुलन बनाए रखना आवश्यक है। जनजातीय समाज की यह जीवन–दृष्टि आधुनिक समाज के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। आज जब पर्यावरणीय समस्याएँ बढ़ रही हैं, तब जनजातीय समुदायों की प्रकृति–केन्द्रित जीवन–शैली हमें प्रकृति के संरक्षण और संतुलन की प्रेरणा देती है। इस प्रकार जनजातीय त्यौहार और उत्सव केवल सांस्कृतिक कार्यक्रम नहीं हैं, बल्कि वे प्रकृति के प्रति सम्मान, कृतज्ञता और संरक्षण की भावना को भी प्रकट करते हैं। यही कारण है कि जनजातीय संस्कृति को प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन का श्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है।

जनजातीय परंपराओं का संरक्षण

जनजातीय त्यौहार और परंपराएँ भारत की सांस्कृतिक धरोहर हैं। जिसके संरक्षण के लिए कुछ प्रयास किए जा रहे है। जो इस प्रकार से है।

1. जनजातीय संस्कृति का अध्ययन और शोध
2. सरकार द्वारा सांस्कृतिक संरक्षण कार्यक्रम
3. शिक्षा के माध्यम से जागरूकता
4. लोक उत्सवों का आयोजन

निष्कर्ष

जनजातीय समाज के त्यौहार और उत्सव उनकी सांस्कृतिक पहचान का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। ये त्यौहार केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं बल्कि सामाजिक एकता, सांस्कृतिक संरक्षण और प्रकृति के प्रति सम्मान का प्रतीक हैं। जनजातीय समाज की जीवन–शैली हमें प्रकृति के साथ संतुलित जीवन जीने की प्रेरणा देती है। आधुनिक समय में इन परंपराओं को संरक्षित करना अत्यंत आवश्यक है, ताकि आने वाली पीढ़ियाँ भी इस समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से परिचित हो सकें।

संदर्भ सूची

1. Elwin, V. (1964) - The tribal world of Verrier Elwin: An autobiography. Oxford University Press.
2. Vidyarthi, L. P., & Rai, B. K. (1976) - The tribal culture of India. Concept Publishing Company.
3. Anthropological Survey of India. (n.d.). Tribal studies reports. Government of India.
4. Munda, R. D. (n.d.). Adivasi sanskriti aur samaj [Tribal culture and society]. (Original work published in Hindi).
5. Singh, K. S. (1992). People of India: An introduction. Anthropological Survey of India.
6. Ministry of Tribal Affairs. (n.d.). Annual reports. Government of India.

★ ★ ★

रामायण की मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना की समीक्षा

अंश मिश्रा
परास्नातक छात्र (हिन्दू अध्ययन),
हिन्दू अध्ययन केंद्र, दिल्ली विश्वविद्यालय,
मो. 7982042118, /Anshmishra202025@gmail.com

रितिक झा
परास्नातक छात्र (हिन्दू अध्ययन),
हिन्दू अध्ययन केंद्र, दिल्ली विश्वविद्यालय,
मो. 9540322470/hritik25012@cts.du.ac.in

शोध सार

यह शोध पत्र रामायण की मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना की आलोचनात्मक समीक्षा करता है। मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग– संघर्ष और अर्थ आधारित अधिरचना की अवधारणाओं पर आधारित है जो ग्रंथों को प्रायः वैचारिक और सत्ता संबंधी उत्पाद के रूप में देखती है। इसी दृष्टि से रामायण को सामंती प्रभुत्व, जातिगत संरचना और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के रूप में स्वीकार करती है।

यह लेख समीक्षा करता है कि, मार्क्सवादी पद्धति भारतीय काव्य शास्त्रीय उपकरणों (यथा शब्द– शक्ति, रस, ध्वनि, प्रसंग आदि) की उपेक्षा करते हुए केवल शब्दों के भावार्थों का विरूपण करती है। आधुनिक वर्गीय विमर्श की श्रेणियों में आरोपित कर देने से मूल संदर्भ और सांस्कृतिक संवेदनाएं विस्थापित होती है तथा भारत की जो इतिहास और काव्य की समन्वित विधा है, उसे आधुनिक यथार्थवादी इतिहास लेखन के मानकों से देखना पद्धतिगत त्रुटि है।

शोध यह विश्लेषण करता है कि किस प्रकार समकालीन वैचारिक संघर्षों और आधुनिक राजनीतिक समस्याओं में ग्रंथ के मार्क्सवादी पुनर्पाठ ने सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, नैतिक और आध्यात्मिक आयामों का ह्रास किया है। इस प्रकार से मार्क्सवादी दृष्टि से भारतीय ग्रंथों को समझना उचित नहीं है। शोध का निष्कर्ष है कि भारतीय ग्रंथों का भारतीय पद्धतियों से व्याख्या करना मार्क्सवादी पद्धति के द्वारा व्याख्या करने से अधिक श्रेयस्कर व सन्तुलित होगा।

प्रमुख शब्द : रामायण, भौतिकवाद, वर्ग– संघर्ष, रस, ध्वनि, शब्द– शक्ति, मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना।

परिचय

रामायण भारतीय संस्कृति और साहित्य का ऐतिहासिक ग्रंथ है, जिसके रचयिता महर्षि वाल्मीकि हैं। यह केवल एक धर्म ग्रन्थ नहीं बल्कि प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना, राजसंबंधों, नैतिक मूल्यों और राजनीतिक परिदृश्यों का दार्शनिक दर्पण ग्रन्थ भी है। परन्तु आधुनिक समाज में इसकी कई विचारधाराओं पर आधारित व्याख्याएँ की जाती हैं, उन्हीं में से एक व्याख्या मार्क्सवादी चश्मे से भी की जाती है। मार्क्सवादी विचारधारा उन्नीसवीं सदी में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित एक सामाजिक– आर्थिक सिद्धांत है जो ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग– संघर्ष और उत्पादन संबंधों को सामाजिक संरचना का आधार बताता है।

रामायण की व्याख्या करते हुए भी मार्क्सवादीयों ने इसे वर्ग– संघर्ष के एक उत्पाद स्वरूप देखा जिसके कारण उन्होंने इसे एक ऐसे ग्रन्थ के रूप में परिभाषित किया जो सामाजिक भेदभाव को दर्शाता है। इसके अंतर्गत वे कई कार्यों को अनीतिगत बताकर इसकी आलोचना व निंदा भी करते है। यह उनकी उपभोक्तावादी मानसिकता का परिणाम है जो अपने विचारों और सत्ता को स्थापित करने के लिए रामायण जैसे पवित्र धार्मिक ग्रन्थ पर आक्षेप लगाते है। इसके लिए वें असंगत तर्कों का सहारा लेते है। रामायण जो कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम की जीवन गाथा है उसमें मर्यादा उल्लंघन, अधर्म और अनीतिपूर्ण व्यवहार करने का आरोप लगाते है। यह उनकी सीमित मानसिक दक्षता का परिचय है क्योंकि वे धर्म, नीति, और मर्यादा की व्याख्या उनके वास्तविक अर्थों से अलग अपनी उपभोक्तावादी दृष्टिकोण से करते है। वे इसको तर्कसंगत दिखाने के लिए हर जगह शब्द के प्राथमिक अर्थ का सहारा लेते और रस व अलंकारों की उपेक्षा करते है, जबकि भारतीय साहित्य की समृद्धता के कारण लगभग सभी ग्रंथों में काव्यशास्त्रीय उपकरणों का सुंदर व सटीक उपयोग देखने को मिलता है। मार्क्सवादी विचारधारा के लोग इन भारतीय काव्यशास्त्रीय उपकरणों के स्थान पर पाश्चात्य सिद्धांतों से ग्रंथों की व्याख्या करते है और समाज में रामायण एवं अन्य पक्षो को लेकर भी भ्रांतियां फैलाते है।

मार्क्सवादी रामायण पर आरोप लगाने के लिए कुछ चयनित विषयों पर अधिक केंद्रित होते हैं जिसमें प्रमुख आरोप वर्ण– व्यवस्था को लेकर लगाया जाता है, यह कहकर कि रामायण में कई घटनाओं पर जातिगत भेदभाव और लैंगिक असमानता देखने को मिलती है। जिसके उदाहरण हेतु वें राक्षस और वानरों के साथ निषादों को अपने इस तर्क का प्रतिनिधि बनाते है। साथ ही अहल्या, ताटका और अन्य स्त्रियों के द्वारा लैंगिक आसमानता को दर्शाने का प्रयत्न करते है।

अतः इस शोधपत्र का उद्देश्य रामायण की मार्क्सवादी व्याख्याओं का समालोचनात्मक समीक्षा करते हुए यह स्थापित करना है कि रामायण जैसे ग्रन्थों की मार्क्सवादी दृष्टिकोण से व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि यह धर्म ग्रन्थ आध्यात्मिकता चेतना और इतिहास के साथ ही काव्यशास्त्रीय उपकरणों से सुशोभित है। जिसको समझने में मार्क्सवादी गलतियां करते है और उसको अपने विचारधारा के प्रयोजन की प्राप्ति का उपकरण बनाकर उपयोग करते है। यह शोध मार्क्सवादी व्याख्याओं का खंडन और पाठक द्वारा रामायण को भारतीय दृष्टिकोण से पढ़ने और समझे जाने की आवश्यकता को उजागर करता है। जो कि विकसित भारत के उत्कृष्ट लक्ष्य को सार्थक बनाने की दिशा में एक पहल का कार्य कर सकेगा।

साहित्यिक समीक्षा

रामायण की मार्क्सवादी व्याख्या पर उपलब्ध साहित्य का अवलोकन यह स्पष्ट करता है कि यह विमर्श मूलतः आधुनिक वैचारिक प्रतिमानों की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ है। १९वीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक भौतिकवाद ने साहित्य को वर्ग–संघर्ष, उत्पादन–संबंधों तथा सत्ता–संरचनाओं के रूप की पद्धति दी। इस पद्धति के अनुसार कोई भी ग्रन्थ अपने समय की आर्थिक–सामाजिक शक्तियों का परिणाम होता है। इसी आधार पर भारतीय ग्रंथों विशेषतः रामायण को भी वर्गीय वर्चस्व, सामाजिक असमानता और वैचारिक प्रभुत्व के उपकरण के रूप में निरूपित करने का प्रयास किया गया।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस दृष्टिकोण को आक्रामक रूप से प्रस्तुत करने वालों में ई. वी. रामास्वामी (पेरियार) की कृति 'सच्ची रामायण' अत्यंत चर्चित है। इस ग्रन्थ में रामायण को आर्य–द्रविड़ संघर्ष का प्रतीकात्मक आख्यान मानते हुए राम को 'ब्राह्मणवादी' सत्ता का प्रतिनिधि और रावण को 'द्रविड़ अस्मिता' का प्रतीक बताया गया है। पेरियार का तर्क है कि रामायण सामाजिक पदानुक्रम को वैधता प्रदान करने वाला सांस्कृतिक आख्यान है, जिसने वर्ण–व्यवस्था और पितृसत्तात्मक संरचना को धार्मिक आश्रय प्रदान किया है। उनके अनुसार यह ग्रन्थ धर्म के नाम पर सामाजिक असमानता का औचित्य सिद्ध करता है।

डॉ सोमसूद्र बरेथियर, M.A.B.L की अपनी पुस्तक कैकई की शुद्धता और दशरथ की नीचता में रामायण को अनैतिक और अधार्मिक प्रसंगों से युक्त ग्रन्थ घोषित करने का एक कठोर प्रयास किया गया है। जिसमें वे आरोप लगाते हैं कि राजा दशरथ ने कैकई को विवाह से पूर्व ही वरदान दिया था कि उनका पुत्र ही राजा बनेगा, जिसका मतलब है कि वे पहले ही अपना राज्य उसे सौंप चुके थे परंतु उनके मन में राम के प्रति अपार प्रेम के कारण वे उन्हें राजा बनाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने भरत को १० वर्ष के लिए उनके ननिहाल भेज दिया। इस प्रसंग के द्वारा वे राजा दशरथ द्वारा किए गए एक षड्यंत्र को इंगित कर उन्हें अधर्मी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ रामायण के प्रमुख पात्रों पर प्रमाण रहित आरोप लगाता है। जिसका आधार केवल कुछ किंवदंतीयां तथा स्वकल्पित तथ्य हैं।

चूंकि पेरियार का प्रभाव भारत में भयंकर और विस्तृत रूप में हुआ है। उसके द्वारा बड़े पैमाने पर मार्क्सवाद का प्रचार–प्रसार हुआ है। इसलिए प्रस्तुत शोध में उसके द्वारा रचित 'सच्ची रामायण' को मार्क्सवाद की रामायण के प्रारंभिक मार्क्सवादी व्याख्यान के रूप में लिया गया है। तथा इसकी पुष्टि और समीक्षा के हेतु वाल्मीकि रामायण को प्राथमिक ग्रंथ के रूप में इस शोध हेतु चयन किया गया है।

पेरियार के अतिरिक्त कुछ अन्य मार्क्सवादी एवं परवर्ती चिन्तकों ने भी रामायण को राजनीति, जातीय वर्चस्व और लैंगिक असमानता के दृष्टिकोण से पढ़ा है। राक्षसों, वानरों और निषादों के चित्रण को सामाजिक "अन्यीकरण" की प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। अहल्या, शूर्पणखा तथा सीता के प्रसंगों को स्त्री–अधीनता के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार की व्याख्याएँ प्रायः यह स्थापित करने का प्रयास करती हैं कि रामायण केवल एक धार्मिक आख्यान नहीं, बल्कि प्रभुत्वशाली वर्ग की विचारधारा को संरक्षित रखने वाला वैचारिक उपकरण है।

किन्तु इस समूचे विमर्श में एक मूल समस्या यह दृष्टिगोचर होती है कि भारतीय काव्य–परम्परा की अंतः संरचना को पर्याप्त महत्व नहीं दिया गया। भारतीय आचार्यों ने काव्य को केवल शाब्दिक अभिव्यक्ति नहीं माना, बल्कि उसे भाव, ध्वनि और आध्यात्मिक संवेदना की संयुक्त अभिव्यक्ति के रूप में देखा है। आनंदवर्धन के ध्वनि–सिद्धान्त तथा अभिनवगुप्त की व्याख्याएँ यह प्रतिपादित करती हैं कि काव्य का सार उसके व्यंजित अर्थ (व्यंग्यार्थ) में निहित होता है, जिसे केवल प्रत्यक्ष अर्थ के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

मार्क्सवादी पद्धति जहाँ ग्रन्थ को ऐतिहासिक–भौतिक सन्दर्भों में सीमित करती है, वहीं भारतीय दार्शनिक परम्परा उसे धर्म, पुरुषार्थ, नीति और लोकमंगल की समन्वित अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करती है। रामायण के पारंपरिक दार्शनिक व्याख्याकारों ने इसे केवल सामाजिक कृति न मानकर एक आदर्श–प्रतिमान के रूप में देखते हैं, जिसमें धर्म का अर्थ स्थूल सामाजिक नियंत्रण नहीं बल्कि लोक–संरचना की नैतिक व्यवस्था है।

समकालीन अध्ययनों में यह भी इंगित किया गया है कि रामायण की विविध क्षेत्रीय, भाषिक और लोक–परम्पराएँ इसकी बहुस्तरीयता को प्रमाणित करती हैं। यदि यह ग्रन्थ केवल एक वर्ग–हित का उत्पाद होता तो उसकी स्वीकृति और पुनर्रचना विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों में इस प्रकार संभव न हो सकती थी। अतः इसे एकरेखीय वर्ग–संघर्ष की कसौटी पर कसना इसकी जटिल संरचना को सरलीकृत कर देना है। उपलब्ध साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मार्क्सवादी व्याख्याएँ प्रायः पूर्वनिर्धारित वैचारिक ढाँचे

के अनुरूप पाठ का चयन करती हैं तथा शाब्दिक अर्थों को प्राथमिकता देती हैं। परिणामस्वरूप काव्यशास्त्रीय उपकरणों, प्रतीकात्मकता और धर्म–संवेदनाओं की उपेक्षा होती है। विशेषतः 'सच्ची रामायण' में प्रस्तुत तर्कों का पुनर्मूल्यांकन इसलिए आवश्यक है जिससे यह स्पष्ट किया जा सके कि क्या मार्क्सवादी दृष्टि भारतीय ग्रंथों की बहुआयामी प्रकृति को आत्मसात् कर पाने में सक्षम है या वह उसे केवल वैचारिक संघर्ष के उपकरण में रूपान्तरित कर देती है।

शोध प्रणाली

इस शोधपत्र में गुणात्मक, व्याख्यात्मक और तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। जिसमें प्राथमिक स्रोत के रूप में वाल्मीकि रामायण को आधार बनाया गया है। वहीं रामायण के द्वितीयक स्रोतों में सच्ची रामायण और रामायण विषवृक्षम जैसे मार्क्सवादी ग्रन्थों का सूक्ष्म उपयोग करते हुए प्राथमिक व द्वितीयक स्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। साथ ही विषयोक्त कई अन्य ग्रंथों व शोधपत्रों का अध्ययन कर उनकी सहायता ली गई है। जिसके द्वारा मार्क्सवादी दृष्टिकोण से रामायण की व्याख्या के अंतर्गत की गई त्रुटियों का मूल्यांकन हो सकेगा और उनकी सीमाएं भी स्पष्ट हो सकेंगी।

शोध प्रबंध

रामायण : संक्षिप्त परिचय

अपौरुषेय वेदों के पश्चात् सर्वप्रथम अनुष्टुप् छंद में निबद्ध संस्कृत भाषा का ग्रंथ है, वाल्मीकि रामायण। श्री राम जी की समग्र कथाओं का मूल स्रोत यही ग्रंथ है। भगवान् के निःश्वासभूत स्वतः प्रमाण स्वरूप वेद ही हमारे यहाँ एकमात्र परम प्रमाण है। भ्रम, प्रमाद (असावधानी), विप्रलिप्सा (लोभ), करणापाटव (इंद्रियों की दुर्बलता) इन चार दोषों की संभावनाएं मानव रचित ग्रंथों में संभव है, किंतु वेद में यह दोष नहीं है, क्योंकि वह अपौरुषेय हैं। श्रीमद्रामायण स्वयं ही वेदावतार है।

वेदवेद्य अर्थात् वेदों से हीं जाने जा सकने वाले परमपुरुष जब दशरथ के पुत्र रुप में प्रकट हुए, तब वेद हीं साक्षात् श्रीरामायण रुप में प्राचेतस श्रीवाल्मीकि मुनि के श्रीमुख से अवतीर्ण हुए।

महर्षि वाल्मीकि देवर्षि नारद से तत्कालीन युग के महापुरुष के विषय में पूछते हैं, तब देवर्षि उन्हें श्री राम जी के जीवन वृत्तांत को सुनाते हैं, उसी को वाल्मीकि द्वारा पद्यात्मक विधा में रचा गया है। इसलिए यह केवल साहित्यिक ग्रंथ नहीं है अपितु ऐतिहासिक ग्रंथ भी है। रामायण के दो अन्य नाम 'सीताश्चरित' और पौलस्त्यवधम् भी हमें वाल्मीकि रामायण से ही प्राप्त होते हैं।

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।

पौलस्त्यवधमित्येव चकार चरितव्रतः।।

(वाल्मीकि रामायण १.४.७)

भावार्थ : उत्तम व्रतका पालन करने वाले उन महर्षिने वेदार्थका विस्तारके साथ ज्ञान करानेके लिये उन्हें सीताके चरित्रसे युक्त सम्पूर्ण रामायण नामक महाकाव्यका, जिसका दूसरा नाम पौलस्त्यवध अथवा दशाननवध था, अध्ययन कराया।

अतः रामायण में श्री राम व सीता का जीवन चरित तथा पौलस्त्य (रावण) वध के विषय में वर्णन है यह वाल्मीकि जी के द्वारा ही प्रथम काण्ड में स्पष्ट रूप से लिखा गया है।

मार्क्सवाद : एक संक्षिप्त परिचय

मार्क्सवाद को समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालना बहुत आवश्यक है। मार्क्सवाद वस्तुतः राजनीति और अर्थशास्त्र का भौतिकवादी दृष्टि से युक्त फिलॉसफी का समाविष्ट है। यूरोप में उनके प्रारंभिक कालों से जो विचारधाराएं चलती रहीं उन्हीं के विवेचन से मार्क्स ने अपने विचार या सिद्धांत स्थापित किए।

कई आधुनिक पाश्चात्य विद्वान जीवन के गंभीर दृष्टिकोण को फिलॉसफी मानते है। उनके अनुसार ज्ञान की यह धारा तत्कालीन संघर्षों का परिणाम होती है। इस प्रकार से किसी फिलॉसफी का उसके निर्माता के जीवन में घटित घटनाओं से सीधा सम्बन्ध होता है। जैसे प्लेटो ग्रीस के राजकुल का शिक्षक था, इसलिए उसकी फिलॉसफी में

राजसंबंध का प्रभाव है। हैराक्लिटिस और हेल्युमोसियस मध्यमश्रेणी से सम्बन्ध रखते थे। इसी प्रकार से कार्ल मार्क्स अपने देश– काल (19वीं शती, जर्मनी) के श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करता है।

मार्क्स का जन्म मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। हिगेलवाद के अध्ययन के पश्चात वह श्रमिक आंदोलन का नेता बना और दास कैपिटल, मैनिफेस्टो ऑफ कम्युनिस्ट पार्टी, पावर्टी ऑफ फिलोसोफी आदि की रचना की।

फ्रेडरिक एंगेल्स एक धनी व्यापारी के घर जन्मा था। वह स्वयं एक मिल मालिक था और उसने मार्क्स को आर्थिक सहायताएं दी थी। मार्क्स की मृत्यु के बाद श्रमिक या कम्युनिस्ट आंदोलन का नेतृत्व उसने ही किया। मार्क्स की फिलॉसफी को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या ऐतिहासिक भौतिकवाद भी कहा जाता है। यह द्वन्द्वात्मक दृष्टि से प्राकृतिक घटनाओं की पहचान और भौतिकवादी दृष्टि से उनकी व्याख्या और सिद्धांत की काल्पनिक विवेचना करता है। मार्क्स के अनुसार, इतिहास की प्रगति का प्रधान कारक है, अर्थव्यवस्था। आर्थिक ढांचे पर ही सामाजिक सांस्कृतिक व राजनीतिक ढांचे आश्रित होते है। वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के अनुकूल होता है। वर्ग–संघर्ष दासता, सामंतशाही और पूंजीवादी युग ने उत्पादन और व्यवस्था के अनुकूल था। सभी के साथ न्याय व समानता होने के वर्ग–संघर्ष अत्यंत अनिवार्य है। जिसके लिए सर्वहारा वर्ग को अधिनायकत्व कि स्थपाना करनी चाहिए, जिसके बाद एक वर्ग विहीन समाज का जन्म होगा।

मार्क्सवाद की सीमाएं

भारत की ज्ञान परम्परा में दृश्यते वस्तु यथात्म्यं अनेनेति दर्शनम् अर्थात् वस्तु (तत्त्व) का यथार्थ अनुभव कराने वाले विचार को दर्शन कहा जाता है'। कर्म करने के विषय में निश्चित रूप से मनुष्य स्वतंत्र है परन्तु ज्ञान मनुष्य के अधीन नहीं होता है। जैसे– किसी इत्र के समीप जाने पर उसकी सुगंध का ज्ञान इच्छा न होने पर भी प्राप्त होता है। अतः तत्त्व का प्रमात्मक ज्ञान दृष्टिकोणपरक नहीं होता है।

इस प्रकार से हमें यह तो ज्ञात होता है कि दर्शन और फिलॉसफी समतुल्य नहीं है, साथ ही यह कि, दर्शन फिलॉसफी की तुलना में अधिक प्रमात्मक है। पाश्चात्य दर्शन वस्तुतः दर्शन न होकर फिलॉसफी है। जो अधिकांशतः ज्ञानक्षुधा को शांत करने के निमित्त भिन्न विषयों का भिन्न– भिन्न दृष्टिकोण मात्र है। और अनेक पाश्चात्य विचार (फिलॉसफी) केवल राजनीतिक उद्देश्यों की अभिपूर्ति हेतु ही है। जबकि भारत की दर्शन परम्परा जीवन के सभी आयामों को समाविष्ट करके तत्त्व से चिंतन करती है।

इसलिए पाश्चात्य परम्परा केवल मन तक पहुंच सकी है और इसी को सर्वार्थसिद्धि का साधन समझती है। उनमें आत्मवादी भी मन और आत्मा को एक मानते हैं। जबकि भारतीय परम्परा ने इन सभी तत्त्वों का सूक्ष्मतम अध्ययन किया है। तत्त्व की सूक्ष्मता से न समझ पाने की यह कमी मार्क्सवाद में भी परिलक्षित होती है। जिस कारण से मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचनाओं में शब्द, शब्द– शक्ति, वाक्य, रस, अलंकार, ध्वनि, प्रकरण, अर्थ आदि साहित्यिक तत्त्वों को अनदेखा करके केवल अपने दृष्टिकोण की सिद्धि करने हेतु त्रुटियाँ करते हैं।

इतिहास के परिवर्तन में मनुष्य के विचारों का महत्वपूर्ण स्थान होता है, जो परिस्थितिपरक होता है। किसी व्यक्ति की महत्त्वता में वृद्धि तब होती है जब उसके विचार तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप हो। इसी के अनुसार व्यक्तिगत परिस्थितियों (सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि) की प्रतिक्रिया स्वरूप ही आधुनिक विद्वानों के विचार भिन्न विचारधारा या फिलॉसफी के रूप में प्रकट हुए हैं।

जिस प्रकार से किसी रोगी के लिए संसार दुःखमय होता है, उसी प्रकार से आर्थिक कष्ट से पीड़ित व्यक्ति के लिए अर्थ ही सब कुछ है। इसलिए मार्क्स को संसार का सबसे महत्वपूर्ण कारण तत्व अर्थ प्रतीत हुआ।

रामायण में भी अर्थ की महत्त्वता को चित्रित किया गया है, यथा–

अर्थेभ्योऽथ प्रवृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः।।

(वाल्मीकिरामायण ६।८३।३२)

भावार्थ : जब अर्थ (साधन) विकसित और सम्पन्न हो जाते हैं, तब उनसे सभी कार्य आरंभ हो जाते हैं, जैसे पर्वतों से नदियाँ प्रवाहित होती हैं।

पुरुषार्थ चतुष्टय में भौतिक उन्नति के हेतु अर्थ और काम महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि, अर्थोपार्जन और कामपूर्ति धर्म (नैतिकता) के अनुरूप होने पर ही उन्नति कारक होते हैं। अतः भारतीय परम्परा में धर्मपूर्वक अर्थ की सिद्धि आवश्यक मानी गयी है। १९५७ में प्रकाशित हुई मार्क्सवाद और राम राज्य नामक पुस्तक में स्वामी करपात्री भी आलोचना में लिखते है– गरीबी में धनवान से ईर्ष्या–द्वेष भी होता है। उन्हें मिटा देने की इच्छा भी होती है, फिर तदनुकूल कुछ युक्तियाँ तथा तर्क भी ढूँढ़ लिए जाते हैं। इस तरह अधिकांश पाश्चात्य दर्शन विशेषतः मार्क्सदर्शन प्रतिक्रियावादी दर्शन है। ईर्ष्या–द्वेष आदि मानव के दोष हैं, गुण नहीं। मार्क्सवादी इन्हीं विकारों को उत्तेजित करके उनके द्वारा राजनीतिक समस्या सुलझाना चाहते हैं। स्वार्थसाधन में भी नैतिकता का ध्यान रखा जाता है, परापहरण आदि निन्द्य समझा जाता है, मार्क्स के मत से परकीय वस्तु का अपहरण न्याय ही है, अन्याय नहीं है।

मार्क्सवाद के इन्हीं भौतिकवाद (अर्थ की महत्ता) और समाज के वर्गों के मध्य हिंसात्मक संघर्ष में वृद्धि करने जैसे कुत्सित प्रयासों को उनके ही एक अनुयायी पेरियार द्वारा रचित तथा ललई सिंह द्वारा हिन्दी में अनुवादित सच्ची रामायण नामक एक पुस्तक की समीक्षा निम्नवत् है कि किस प्रकार से मार्क्सवादी उचित समीक्षा या आलोचना ना करके केवल अपनी भावनाओं का अन्यायपूर्ण प्रदर्शन करते हैं। जो भारतीय

ज्ञान परम्परा और संस्कृति को क्षतिग्रस्त करता है। इसलिए हमें समीक्षा की भारतीय प्रणालियों को विकसित करना चाहिए जो विकसित भारत में स्वत्व व आत्म बोध में भी योगदान करती हैं।

समीक्षा

स्रोत समीक्षा– प्रस्तुत किये गये आरोपों के समर्थन के लिए किसी भी पांडुलिपि या प्रमाणित टीकाकार जैसे गोविन्दराज, महेश्वरतीर्थ, नीलकंठ द्विवेदी आदि की प्रारंभिक टीकाओं से भी पुनः पुष्टि करने का प्रयास नहीं किया गया है। इसके स्थान पर अपने समय के मार्क्सवादी शोधकर्ताओं के ही लेखों से संदर्भ प्रस्तुत किये गये हैं।

मूल श्लोकों का अभाव– पेरियार तथा रंगनायकम्मा की आलोचनाओं में रामायण के प्राथमिक स्रोत वाल्मीकि रामायण से मूल श्लोकों को बहुत ही कम प्रस्तुत किया गया है। प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों के विषय में स्पष्ट जानकारी भी नहीं दी गई है।

चयनात्मक उदाहरण– केवल कुछ प्रसंगों का स्वनिर्मित रूप प्रदर्शित किया है, यथा– 'वह (सीता) राम की अपेक्षा आयु मे बड़ी है। उसका जन्म संदेहजनक और आपत्तियुक्त था।' 'विवाह हो जाने के पश्चात कुछ समय बाद वह भरत द्वारा अलग कर दी गयी।' (सच्ची रामायण, पृष्ठ 26) तथापि कहीं भी निषादराज गुह, शबरी, ऋष्यशृंग, विश्वामित्र, अगस्त्य, सत्यकाम जाबाली आदि का उल्लेख नहीं किया गया है जो श्री राम के जीवन के महत्वपूर्ण व्यक्तित्व थे।

संस्कृत साहित्य के तत्त्वों की उपेक्षा–

शब्द–शक्तिः दोनों ही मार्क्सवादियों ने अभिधा शक्ति के आधार पर ही अर्थ का विवेचन किया है, जबकि काव्य विधा में प्रायः लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग अधिक होता है। आचार्य कुन्तक के अनुसार– वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् वक्रता का अर्थ ही है 'अभिधा से परे, विशेष अभिव्यक्ति'। यह प्रायः लक्षणा और व्यंजना के माध्यम से संभव होती है।

रस की अवहेलनाः काव्य सदैव रसपूर्ण अभिव्यक्ति होती है। परन्तु आलोचकों ने इसको अनदेखा किया है। संवादों के मनोवैज्ञानिक रसात्मक अभिव्यक्ति को न देखकर शाब्दिक आक्षेप के रूप में लिया है।

धर्म का सीमित बोध– धर्म को 'रिलीजन' के संकीर्ण रूप में ग्रहित करके सामाजिक नियन्त्रण के रूप में देखते हैं। धर्म स्वयं में एक गंभीर विषय है तथा यह रिलीजन की भांति किसी समूह के विश्वास पर निर्भर नहीं करता है।

अंतः असंगति– पेरियार की कृति में द्वंद और अंर्त असंगतियाँ स्पष्ट रूप से प्रकट होती हैं, यथा– पृष्ठ 50 पर सीता जी की आयु 20 वर्ष और पृष्ठ 57 पर 25 वर्ष लिखी है तथा पृष्ठ 27 पर लिखा है कि बनवास में जब सीता किसी निकट भविष्य के खतरे से भयभीत होती तो वह मन में कहा करती कि, 'मेरे दुःखों से कैकई प्रसन्न संतुष्ट होती होगी'। इस प्रकार वह कैकई से अपनी शत्रुता प्रकट करती थी। और फिर ठीक यही बात पृष्ठ 47 पर श्री राम के लिए लिखी है। इस प्रकार से उसके ग्रंथ में अंत असंगति या अंतर्द्वंदता दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त वह रामायण को काल्पनिक मानता है, "रामायण और महाभारत आर्य– ब्राह्मणों द्वारा चालाकी और चतुरता पूर्ण निर्मित प्रारंभिक प्राचीन कल्पित कथायें हैं।" (सच्ची रामायण, प्रस्तावना) परन्तु साथ ही रावण को लंका के राजा तथा राक्षसों को तमिल मानव के रूप में स्वीकृत किया है "उसके (राम) द्वारा मारा गया रावण लंका का राजा था।" तथा "वे सब लोग जो इस युध्द में मारे गये, आर्यों द्वारा राक्षस कहे जाने वाले तमिलनाडु के मनुष्य है।" (सच्ची रामायण, भूमिका)

आध्यात्मिक और दार्शनिक आयामों की उपेक्षा– मार्क्सवादियों ने अपनी भौतिकवादी दृष्टि के कारण रामायण को केवल सामाजिक आख्यान स्वीकारा है, जबकि वाल्मीकि रामायण स्थान स्थान पर दार्शनिक व आध्यात्मिक वर्णन करते हैं। यथा–

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्।

भावार्थ : सभी संचय विनाश में समाप्त होते हैं, ऊँचाई का अन्त पतन है, मिलन का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मृत्यु है।

आक्रोशात्मक वर्णन– रंगनायकम्मा और पेरियार दोनों की भाषा आक्रोशी तथा असंयमित है, जो पाठक को स्वतः ही ज्ञात हो जाता है। तथा पाठ साक्ष्य के बिना पात्रों के चरित्र का हनन किया गया है। "हम अधिकारपूर्वक कह सकते हैं, कि– राम और सीता चरित्रहीन थे" (सच्ची रामायण, पृष्ठ 31) आलोचना का यह उद्देश्य विश्लेषण न होकर अवमानना अधिक प्रतीत होती है। जो सीधे सीधे भारतीय संस्कृति पर कुठाराघात करती है।

भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन की प्रस्तावित पद्धति

विकसित भारत के निर्माण में भारतीय ज्ञान–परम्परा के पुनर्पाठ और पुर्नस्थापन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके लिए आवश्यक है कि भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन ऐसी पद्धति से किया जाए जो उनकी मूल प्रकृति, उद्देश्य तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप हो। आधुनिक युग में अनेक पाश्चात्य विचारधाराओं, जैसे मार्क्सवाद, संरचनावाद, उत्तर–आधुनिकतावाद तथा अन्य वैचारिक प्रतिमानों के माध्यम से भारतीय ग्रन्थों की व्याख्या का प्रयास किया गया है। यद्यपि इन पद्धतियों का अपना अकादमिक महत्त्व है, तथापि भारतीय ग्रन्थों को केवल इन्हीं दृष्टियों तक सीमित कर देना उनके वास्तविक स्वरूप को समझने में बाधक हो सकता है। अतः भारतीय वाङ्मय के अध्ययन के

लिए एक समन्वित भारतीय पद्धति का विकास आवश्यक है।

इस पद्धति का प्रथम आधार मूल पाठ होना चाहिए। किसी भी ग्रन्थ के संबंध में निष्कर्ष निकालने से पूर्व उसके प्रामाणिक पाठ, उपलब्ध पाण्डुलिपियों तथा मूल भाषा का अध्ययन किया जाना चाहिए। केवल अनुवादों अथवा द्वितीयक स्रोतों पर आधारित अध्ययन अनेक भ्रान्तियों को जन्म देता है।

किसी ग्रन्थ के अभिप्राय को समझने के लिए उसके परम्परागत व्याख्याताओं के मतों का अध्ययन किया जाना चाहिए, क्योंकि वे ग्रन्थ की सांस्कृतिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि से परिचित होते हैं। अतः भाष्य–परम्परा का अवलोकन आवश्यक है।

किसी भी प्राचीन ग्रन्थ का मूल्यांकन आधुनिक सामाजिक अथवा राजनीतिक मानदण्डों के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। प्रत्येक कथन और घटना को उसके युगीन संदर्भ में समझना ही वस्तुनिष्ठ अध्ययन का आधार है। अतः देश– काल और परिस्थिति का विचार अनिवार्य है।

मीमांसा के षड्विधलिङ्ग जैसे उपकरण ग्रन्थ के वास्तविक अभिप्राय को समझने में सहायक हैं। इनके अभाव में चयनित उद्धरणों के आधार पर निष्कर्ष निकालना पद्धतिगत त्रुटि सिद्ध हो सकता है।

शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना, रस, अलंकार, ध्वनि तथा वक्रोक्ति जैसे तत्त्व संस्कृत साहित्य की मूल विशेषताएँ हैं। अतः किसी भी कथन की व्याख्या केवल शाब्दिक अर्थ के आधार पर न करके उसके व्यंग्यार्थ और प्रसंगगत अभिप्राय को भी समझना आवश्यक है। अतः भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। भारतीय परम्परा में धर्म का अर्थ किसी सम्प्रदाय–विशेष की मान्यता न होकर वह सिद्धान्त है जो व्यक्ति, समाज तथा विश्व की सम्यक् व्यवस्था का आधार बनता है। अतः इसकी व्याख्या भारतीय संदर्भों के अनुरूप ही की जानी चाहिए। अतः भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन रिलीजियस दृष्टि के स्थान पर धर्म की दृष्टि से किया जाना चाहिए।

किसी एक प्रसंग, पात्र अथवा कथन को पृथक् करके सम्पूर्ण ग्रन्थ के विषय में निर्णय देना न्यायसंगत नहीं है। अध्ययन सदैव सम्पूर्ण, कथानक, उद्देश्य तथा सन्दर्भों के आलोक में किया जाना चाहिए। अतः ग्रन्थ की समग्रता को ध्यान में रखना आवश्यक है।

यदि किसी ग्रन्थ का अध्ययन किसी पूर्वनिर्धारित वैचारिक निष्कर्ष को सिद्ध करने के उद्देश्य से किया जाएगा, तो वह शोध न होकर मत–स्थापना बन जाएगा। भारतीय ज्ञान–परम्परा का मूल लक्ष्य सत्य की खोज और तत्त्व का अन्वेषण है। अतः पूर्वाग्रह का त्याग करके ग्रंथ का अध्ययन करना चाहिए।

मार्क्सवादी या अन्य पाश्चात्य विचारधाराओं के लेखक जो भारतीय ग्रन्थों की व्याख्या करते हैं, वह इन पक्षों पर तनिक भी ध्यान नहीं देते। जिसके कारण वे अर्थ का अनर्थ लगाकर समाज को भ्रमित करने का कार्य करते हैं। जब एक युवा तथा विषय में नवीन पाठक इसको पढ़ता है तो उसके मन व मस्तिष्क पर नकारात्मक छाप पड़ती है। जब हम विकसित भारत के लक्ष्य प्राप्ति की चर्चा करते हैं तब ऐसे पक्षों का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है क्योंकि यूरोकेंद्रित मानसिकता से ग्रसित व्यक्ति जब भारतीय ग्रन्थों की व्याख्या करते है तो वे उनकी छवि को धूमिल करने का प्रयास करते हैं। जो विश्व पर प्रभाव छोड़ते है, जिससे बचने के लिए आवश्यक है कि हम भारतीय पद्धतियों द्वारा इन ग्रन्थों की व्याख्या करें ।

शोध के निष्कर्ष

इस अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि रामायण की मार्क्सवादी व्याख्या का आधार केवल वर्ग– संघर्ष, लैंगिक आसमानता और उपभोक्तावादी मानसिकता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण जो सामाजिक संरचना को वर्ग– संघर्ष और उत्पाद संबंधों का परिणाम मानता है। वह रामायण की व्याख्या करते समय भी इसी दृष्टि को प्रयोग में लाता है और केवल एक लक्ष्य रामायण को वर्ग– संघर्ष की काल्पनिक कथा के रूप में स्थापित करने का पूरा प्रयास करता है। किन्तु विश्लेषण से यह तथ्य सामने आते हैं कि रामायण का केन्द्रीय और प्राथमिक तत्व वर्ग– संघर्ष नहीं बल्कि धर्म और मर्यादा की स्थापना है।

प्रथम, राम के चरित्र से एक नैतिक और धर्माचरित आदर्श राजा के गुण मिलते हैं। वहीं एक पुत्र, भाई और पति के रूप में उनका त्याग, कर्तव्य और नैतिक आदर्शों का प्रमाण भी मिलता है। उन्होंने अपने सभी कर्तव्यों का निर्वहन धर्मानुसार किया परन्तु मार्क्सवादी इसके पीछे स्वार्थ और षडयंत्र को वजह बताते है जिसके हेतु प्रस्तुत तर्क निराधार है।

द्वितीय, रामायण के कई अन्य पात्र जिसमें वानर, स्त्री और निषाद आदि के द्वारा मार्क्सवादी वर्ग– संघर्ष और लैंगिक असमानता का आरोप लगाते हैं। जबकि इसके विपरीत इसमें सभी वर्गों एवं जातियों के मध्य अच्छे संबंध एवं परस्पर सहयोग स्पष्ट दिखता है।

तृतीय, रामायण में कई दार्शनिक व आध्यात्मिक पक्षों का भी उल्लेख मिलता है परन्तु मार्क्सवादी लोग इसको अनदेखा करते है। भौतिकवादी एवं भोक्तावादी लोगों के लिए वे पुत्रेष्टि यज्ञ, जैसी घटनाओं को अतार्किक सिद्ध करते हैं जबकि यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का भाग है।

निष्कर्षत : यह कहा जाना चाहिए कि, भारतीय साहित्य को पढ़ने के लिए भारतीय अध्ययन पद्धति ही प्रयोग में लाई जा सकती है क्योंकि पाश्चात्य पद्धति सीमित साहित्यिक उपकरणों के प्रयोग और पूर्वाग्रह व भौतिक उपभोग की मानसिकता से ग्रस्त है। जिसका प्रयोग रामायण तथा अन्य किसी भारतीय ग्रन्थ के अध्ययन के लिए करने पर यह देश की विकास गति के लिए अवरोधक सिद्ध होता है और

अप्रमात्मक दृष्टिकोण से भारत की विराट और पुरातन संस्कृति में अविश्वास तथा क्षति करता है। इसलिए यह शोध पत्र भारतीय ग्रंथों की भारतीय अध्ययन पद्धतियों द्वारा व्याख्यायित किए जाने और पाश्चात्य (मार्क्सवादी आदि) दृष्टिकोणों की व्याख्याओं में सुधार की आवश्यकताओं पर प्रकाश डालता है।

संदर्भ

1. श्रीमद्वाल्मीकि रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर
2. रामायण भूषण टीका, आचार्य श्री गोविंदराज, गीताप्रेस गोरखपुर
3. सच्ची रामायण, पेरियार ई. वी.. रामासामी नायकर (हिन्दी अनुवादकः ललईसिंह यादव), मूलनिवासी प्रचार– प्रसार केंद्र, नागपुर
4. मार्क्सवाद और रामराज्य, स्वामी श्री करपात्री जी महाराज, गीताप्रेस गोरखपुर
5. श्रीमद्वाल्मीकि रामायण तात्पर्य निर्णय, स्वामी श्री सीतारामशरण जी महाराज, श्री लक्ष्मणकिलाधीश, अयोध्या
6. A brief summary of Ranganayakamma's 'Ramayan Vishavruksham', link -
7. https://ranganayakamma.org/summary_of_vishavruksham.htm?utm_source=copilot.com

★★★

हिन्दू धर्म में नारी का महत्व

सोनम रानी

शोध छात्रा हिन्दू अध्ययन विभाग
शोध निर्देशिकाः डॉ. सुमिता त्रिपाठी
(असिस्टेंट प्रोफेसर) आधुनिक विषय पीठ
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
संपर्क सूत्र– 7906217473। sonambhimwal07@gmail.com

सारांश

यह शोध पत्र हिन्दू धर्म में नारी की महत्वता पर चर्चा करता है। हिन्दू धर्म में नारी को न केवल जन्मदात्री अपितु सृष्टि की आदिशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। प्राचीन काल से ही नारी को हिन्दू धर्म में समान स्थान दिया गया है। हिंदू धर्म केवल एक आस्था नहीं, बल्कि जीवन जीने की एक पूर्ण पद्धति है। यह धर्म सृष्टि, समाज, नैतिकता और आध्यात्मिकता – इन सभी का संगम है। इस विशाल दर्शन में "नारी" का स्थान अत्यंत ऊँचा और पूजनीय माना गया है। वेदों से लेकर उपनिषदों, रामायण–महाभारत से लेकर पुराणों और आधुनिक काल तक नारी की उपस्थिति न केवल पूज्य रूप में रही है, बल्कि समाज के विकास का आधार भी रहा है। नारी को शक्ति, करुणा, सृजन, सहनशीलता और प्रेम का प्रतीक कहा गया है। सदियों से नारी को देवी का रूप माना गया है,यह शोध पत्र नारी के स्थान और महत्व को हिंदू धर्म में समझने का प्रयास करेगा, जिसमें शास्त्रों में वर्णित श्लोकों के माध्यम से नारी के महत्व को स्पष्ट किया जाएगा। यह पत्र स्थापित करता है कि हिंदू धर्म की सैद्धांतिक नींव (वेद, उपनिषद, पुराण) नारी को पुरुष के समान बल्कि उससे भी उच्च स्थान देती है। जहाँ वह सृष्टि की अर्धांगिनी, शक्ति का अवतार और धर्म की संरक्षक है।

प्रस्तावना

हिंदू केवल पूजा–पाठ, कर्मकांड, और अनुष्ठान से जुड़ा नहीं है, बल्कि समाज, व्यक्ति और संस्कृति के मूल्यों की गहरी समझ भी देता है। हिंदू धर्म में नारी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण और पूजनीय है। नारी को जीवन का आधार माना गया है और उसे शक्ति, समृद्धि और संस्कारों का प्रतीक माना जाता है। नारी का यह गौरव केवल धार्मिक प्रतीकों तक सीमित नहीं रहा बल्कि भारतीय समाज के नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का भी आधार बना। शास्त्रों में अनेक जगहों पर नारी को जीवन के विभिन्न पहलुओं में एक आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है, चाहे वह माता, पत्नी या गुरु के रूप में हो। समय के साथ सामाजिक संरचनाओं में परिवर्तन हुआ, जिससे नारी की स्थिति में भी उतार–चढ़ाव आया। तथापि हिन्दू दर्शन में नारी सदैव आदरणीय और पूजनीय रही है। हिन्दू धर्म एक प्राचीन और समृद्ध धार्मिक परंपरा है, जिसमें नारी को सशक्त और सम्मानित स्थान दिया गया है। यह शोध पत्र हिंदू धर्म में नारी के महत्त्व, उसकी पूजा, उसके अधिकार और समाज में उसकी भूमिका पर प्रकाश डालेगा। इस शोध–पत्र में हम यह अवलोकन करेंगे कि हिन्दू धर्मशास्त्र, पुराण–कथाएँ, सामाजिक परंपराएँ व आधुनिक युग में नारी के स्थान–स्थिति को कैसे परिभाषित किया गया है। यह शोध–पत्र हिंदू धर्म के विभिन्न ग्रंथों, परंपराओं और विचारों के माध्यम से नारी के बहुआयामी स्वरूप का विश्लेषण करता है और यह दर्शाता है कि हिंदू संस्कृति में नारी को केवल पूजनीय नहीं बल्कि अनिवार्य और जीवंत शक्ति के रूप में देखा गया है।

नारीः शक्ति और देवत्व का मूल आधार

शास्त्रों में नारी को ज्ञान, धन और बल की अधिष्ठात्री देवी के रूप में पूजा जाता है।

सरस्वतीः ज्ञान, कला और वाणी की देवी। यह सिद्ध करता है कि ज्ञान और बुद्धि का सर्वोच्च रूप नारी है।

लक्ष्मीः धन, समृद्धि और ऐश्वर्य की देवी। यह दर्शाती है कि भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का स्रोत नारी है।

दुर्गा(शक्ति): बल, शौर्य और मोक्ष की देवी। यह प्रमाणित करती है कि रक्षा और संहार की परम शक्ति नारी है।इस मूलभूत विचार को एक प्रसिद्ध श्लोक से समझा जा सकता हैः

या देवी सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।। (दुर्गासप्तशती)

(अर्थात्: जो देवी सभी प्राणियों में शक्ति रूप में स्थित हैं, उन्हें बार–बार नमस्कार है।)

यह श्लोक स्पष्ट करता है कि नारी शक्ति ही हर प्राणी में व्याप्त है।

नवरात्रि पर्व के नौ दिन न केवल देवी दुर्गा की उपासना का प्रतीक है, बल्कि नारी शक्ति, सम्मान और सृजनशक्ति के महत्त्व को भी प्रकट करता है। इस पर्व में नौ दिनों तक देवी के नौ रूपों की पूजा की जाती है – जो नारी के विविध स्वरूपों जैसे प्रेम, करुणा, शक्ति, बुद्धि, साहस, और संरक्षण का प्रतिनिधित्व करते हैं। महिषासुर मर्दिनी के रूप में देवी दुर्गा यह सिखाती हैं कि जब अन्याय और अत्याचार बढ़ जाए, तो नारी स्वयं में इतनी शक्ति रखती है कि वह उसका अंत कर सकती है। आदि शंकराचार्य ने भी देवी पूजा (शाक्त मत) को सर्वोच्च स्थान देकर नारी शक्ति के महत्व को पुनः स्थापित किया।

वैदिक काल में नारी का स्थान

वैदिक युग भारतीय संस्कृति का स्वर्णकाल माना जाता है। इस युग में नारी को पुरुष के समान अधिकार और सम्मान प्राप्त था। वैदिक काल में स्त्रियाँ विदुषी, ऋषिकाएँ और विचारक के रूप में प्रतिष्ठित थीं। ऋग्वेद में अनेक स्त्रियों का उल्लेख ऋषिकाओं के रूप में मिलता है– घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, रोमशा, मैत्रेयी और गार्गी जैसी विदुषियों ने दार्शनिक चर्चाओं में भाग लिया,जो उनकी बौद्धिक समानता को सिद्ध करता है। उन विदुषियों ने वेदों के अध्ययन के साथ–साथ अनेक वैदिक मंत्रो की रचना की जैसे ऋग्वेद का वाक सूक्त।

एक श्लोक में कहा गया हैः

अग्निर्मूर्तिर्माता सुतुं नारीषु कं सुतं हरा।

(ऋग्वेद 10.19.12)

इस श्लोक में अग्नि, मूर्तियों, माता और नारी को एक समान सम्मान देने का उल्लेख है, जो नारी के धार्मिक और सामाजिक महत्व को दर्शाता है। वेदो में नारी को समान अधिकार मिला है। गायत्री मंत्र में नारी के महत्व का संकेत मिलता है, क्योंकि यह मंत्र सामूहिक कल्याण और ज्ञान की प्राप्ति के लिए है, जिसमें स्त्री भी शामिल है।

ऊँ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं ।

भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

ऋग्वेद (3.62.10)

यह मंत्र न केवल पुरुषों के लिए, बल्कि स्त्रियों के लिए भी है। यहाँ से यह संदेश मिलता है कि नारी को भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का समान अधिकार है।

वैदिक काल में स्वयंवर की प्रथा नारी को अपना जीवनसाथी चुनने का अधिकार देती थी, जो उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रतीक है। माता सीता का स्वयंवर, द्रौपदी, विधोत्तमा आदि कई महान नारियों के नाम शामिल है। जिन्होंने अपने लिए जीवन साथी अपनी इच्छानुसार चुना था। हिंदू विवाह में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी (आत्मा का आधा भाग) माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि नारी के बिना नर का जीवन अधूरा है। कोई भी धार्मिक अनुष्ठान या यज्ञ पत्नी की उपस्थिति के बिना पूर्ण नहीं माना जाता। यह तथ्य दर्शाता है कि वैदिक काल में नारी को केवल पारिवारिक भूमिका तक सीमित नहीं किया गया, बल्कि उसे धर्म और ज्ञान के क्षेत्र में समान भागीदारी दी गई थी।

उपनिषद और स्मृतियों में नारी का स्वरूप

उपनिषदों में नारी को सप्तद्वारिणी के रूप में भी माना गया है, जो जीवन के सात द्वारों की प्रतीक है। बृहदारण्यक उपनिषद में गार्गी और याज्ञवल्क्य के संवाद से ज्ञात होता है कि नारी बौद्धिक दृष्टि से पुरुष के समान थी। उपनिषदों में नारी को "प्रकृति" और नर को "पुरुष" कहा गया है– दोनों के संयोग से ही जगत की उत्पत्ति होती है। इसलिए नारी समाज का केवल एक अंगमात्र नहीं है, अपितु सृष्टि की जननी है। बृहदारण्यक उपनिषद में वर्णित अर्धनारीश्वर का सिद्धांत इस बात का प्रतीक है कि पुरुष और नारी एक–दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। नारी को 'अर्धनारीश्वर' के रूप में शिव के साथ समान रूप से प्रस्तुत किया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में उल्लेखित यह मंत्र नारी के महत्ता को दर्शाता है :

"मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।"

(तैत्तिरीय उपनिषद्)

अर्थ : माता और पिता दोनों देवता समान हैं। माता को पहले स्थान पर रखा गया है, यह नारी गौरव का सर्वोच्च प्रतीक है।

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ग्रंथों में नारी की सामाजिक भूमिका निर्धारित की गई है। मनुस्मृति का यह श्लोक हिंदू धर्म की भावना को स्पष्ट करता है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।

(मनुस्मृति 3.46)

अर्थ : जहाँ नारी का आदर होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं : जहाँ उनका अपमान होता है, वहाँ सारे कर्म निष्फल हो जाते हैं।

मनुस्मृति का एक प्रसिद्ध श्लोक है ,

स्त्रीं तु रोचमनायन सर्वं तद्रोचते कुलम् ।

तस्यां त्वरोचमनायां सर्वमेव न रोचते ।। (मनुस्मृति 3.62)

अर्थात, एक परिवार की खुशी महिला की खुशी पर निर्भर करती है – जब वह खुश होती है, तो परिवार फलता–फूलता है : जब

वह खुश नहीं होती, तो सभी को इसका प्रभाव महसूस होता है।

यह श्लोक दर्शाता है कि स्त्री का समाज और परिवार में कितना महत्व है।परिवार और समाज में नैतिक मूल्यों और रीति–रिवाजों को बनाए रखने का सबसे बड़ा दायित्व नारी पर होता है। वह पीढ़ी–दर–पीढ़ी संस्कृति का हस्तांतरण करती है।

स्मृति ग्रंथों के अनुसार, नारी ही गृहस्थाश्रम की आधारशिला है।

गृहं न तु गृहं मतं यत्र नारी न विद्यते।

जहाँ स्त्री नहीं होती, वह घर नहीं, केवल ईंट–पत्थर का ढेर है।

इससे यह स्पष्ट है कि नारी को गृह का मंगलकारिणी और धर्मपालक माना गया है।

पुराण एवं धार्मिक ग्रंथो में नारी का प्रतिरूप

हिन्दू धर्म में शक्ति को स्त्री के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। शक्ति के बिना ब्रह्मा, विष्णु, और शिव जैसे देवता भी अपने कार्य को संपन्न नहीं कर सकते। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में नारी को शक्ति का रूप माना गया है।

यो ब्रह्मा ब्रह्मणा हृष्टो यः शंकरो महेश्वरः ।

यां देवि जपतां शक्तियाँ सीता भवति हरिः ।। (शिव पुराण)

इस श्लोक में देवी की शक्ति को ब्रह्मा, शिव और विष्णु के साथ जोड़कर नारी की महिमा को दर्शाया गया है। यहाँ यह सिद्ध किया जाता है कि नारी की शक्ति के बिना कोई भी देवता अपने कार्य को नहीं कर सकता।

देवी माहात्म्य (मार्कंडेय पुराण) में देवी को ब्रह्मा, विष्णु और महेश की जननी कहा गया है। देवी को "महामाया", "आदि शक्ति" और "जगत् जननी" के रूप में वर्णित किया गया है।

रामायण में श्रीराम अपने श्रीमुख से मां को स्वर्ग से भी बढ़कर मानते हैं। वे कहते हैं–

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गदर्गापि गरीयसी।

(अर्थात, जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है।)

महाभारत में द्रौपदी को पंचाली के रूप में आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया गया है, जो अपने सम्मान और धर्म के लिए संघर्ष करती है। वहीं, रामायण में सीता माता को नारी धर्म का प्रतीक माना गया है, जिन्होंने अपनी निष्ठा, संयम और कर्तव्य के साथ जीवन जिया।

शास्त्रों में स्त्री को रत्न से भी बढ़ कर माना गया है। स्त्री रत्न महान है, और इस जगत में स्त्रियों से अधिक पवित्र कुछ नहीं है।

न स्त्रीरत्नसमं रत्नम्। चाणक्य सूत्राणी 313

(अर्थात, स्त्री जैसा कोई रत्न नहीं है।)

नारी के विभिन्न रूप

हिंदू धर्म में नारी के अनेक रूपों का सम्मान किया गया है। वेद, उपनिषद और पुराणों में नारी को विभिन्न अवतारों में पूजा गया है, जैसे कि माता, बहन, पत्नी, और देवी।

माता : नारी को सबसे पहले माँ के रूप में पूजा जाता है। माँ के रूप में नारी जीवन का पहला और सर्वोत्तम रूप मानी जाती है। माता के रूप में नारी का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि माँ की कोख से ही जीवन का प्रारंभ होता है। हिंदू संस्कृति में माँ को प्रथम गुरु और साक्षात् ईश्वर का रूप माना जाता है। मातृ देवो भवः (माँ देवता के समान है) का सिद्धांत इसकी पुष्टि करता है।

पत्नी : पत्नी के रूप में नारी को एक आदर्श सहचर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रामायण में सीता का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जो न केवल अपने पतिव्रता धर्म के लिए प्रसिद्ध हैं, बल्कि उन्होंने समाज को भी एक आदर्श प्रदान किया है। पत्नी का कर्तव्य अपने पति के साथ जीवन के उतार–चढ़ाव में सच्ची साथी बनकर चलना है।

देवी : नारी को देवी के रूप में पूजा जाता है। हिंदू धर्म में शक्ति को सर्वोच्च माना गया है और शक्ति के रूप में नारी के अनेक रूप हैं। दुर्गा, काली, लक्ष्मी, सरस्वती जैसे देवी रूप नारी की शक्ति, ज्ञान और समृद्धि का प्रतीक हैं।

गुरु : नारी को गुरु के रूप में भी पूजा जाता है। महाभारत में द्रौपदी का उदाहरण सामने आता है, जो न केवल एक पत्नी, बल्कि एक महान आत्मज्ञान की प्रतीक थीं। अनुसूया, शकुन्तला और गार्गी जैसी महान महिला आचार्यों ने न केवल वेदों के ज्ञान को फैलाया, बल्कि समाज में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आधुनिक काल में नारी पुनर्जागरण

बाहरी आक्रमणों और सामाजिक असुरक्षा के कारण बाल विवाह, पर्दा प्रथा और शिक्षा से वंचित रखने जैसी कुरीतियाँ उत्पन्न हुईं, जो मूल वैदिक सिद्धांतों के विपरीत थीं। ये कुरीतियाँ धर्म की देन नहीं, बल्कि विकृत सामाजिक व्यवस्था की उपज थीं। धर्म का मूल सार तो आज भी नारी को समर्पण और शक्ति के रूप में ही देखता है। इस काल में शिक्षा और सामाजिक जागरूकता ने नारी को आत्मनिर्भर बनाया और हिंदू धर्म के मूल विचार – शक्ति स्वरूपा नारी को पुनः सजीव किया। सामाजिक सुधार आंदोलनों ने शिक्षा, विवाह, और नारी अधिकारों को

नया आयाम दिया।

राजा राममोहन राय ने सती प्रथा का विरोध किया और विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया। स्वामी विवेकानंद ने कहा–"स्त्रियों की प्रगति के बिना समाज का उद्धार असंभव है।" महर्षि दयानंद सरस्वती ने भी वेदों के आधार पर नारी–शिक्षा का समर्थन किया और कहा :

यत्र नार्यः शिक्षिता, तत्र राष्ट्रं समृद्धं भवति।

इन विचारों से यह सिद्ध होता है कि आधुनिक युग के संतों ने भी हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व – नारी को पुनः समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया।

सरोजिनी नायडू, कस्तूरबा गांधी, अहिल्या बाई होल्कर और एनी बेसेन्ट जैसी महिलाओं ने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय योगदान दिया। आधुनिक नारी आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर परिवार और समाज के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रही है। वह केवल गृहलक्ष्मी नहीं, बल्कि कर्मभूमि की लक्ष्मी भी है। आज के समाज को पुनः जागृत होने की आवश्यकता है। हमें केवल श्लोकों का उच्चारण नहीं करना है, बल्कि व्यवहार में नारी के प्रति उसी सम्मान और समानता को स्थापित करना है जो हमारे मूल ग्रंथों में निहित है।

निष्कर्ष

हिंदू धर्म में नारी का महत्व केवल एक सामाजिक अवधारणा नहीं है, बल्कि यह सनातन सिद्धांत है। वह शक्ति है, ज्ञान है, समृद्धि है, और सृष्टि का मूल आधार है। नारी को देवी, माता, विद्या और करुणा के रूप में पूजा जाता है।

वैदिक काल से लेकर आज तक, नारी ने जीवन के हर क्षेत्र में अपनी सृजनात्मक उपस्थिति दर्ज कराई है। किसी भी राष्ट्र या संस्कृति की पहचान उसके द्वारा नारियों को दिए गए सम्मान से होती है। हिंदू धर्म ने यह सम्मान हजारों साल पहले स्थापित कर दिया था। समाज की प्रगति के लिए, हमें उस मूल वैदिक चेतना को पुनर्जीवित करना होगा जहाँ नारी वास्तव में सर्वोच्च शक्ति है।

नारी का सम्मान, उसकी स्वतंत्रता और उसकी सृजनशीलता ही भारतीय संस्कृति की आत्मा है। जब तक नारी का सम्मान नहीं होगा, तब तक किसी भी समाज में वास्तविक धर्म और समृद्धि का वास संभव नहीं है। ष्नारी न केवल जीवन का सृजन करती है, वह संस्कृति का संवाहक और धर्म का जीवंत प्रतीक भी है।"

संदर्भ सूची

1. ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त ८५, १२५ कृ उषा, वाक् और विश्ववारा ऋषिकाएँ।
2. मनुस्मृति . वाराणसी : चौखम्बा ओरियन्टालिया।
3. अथर्ववेद संहिता (श्रीपाद दामोदर सातवलेकर सम्पादित). पारडी : स्वाध्याय मण्डल।
4. देवी–महात्म्य (दुर्गासप्तशती) ।
5. बृहदारण्यक उपनिषद् , गोरखपुर : गीताप्रेस – संवादः गार्गी और याज्ञवल्क्य।
6. श्रीमद्देवीभागवत महापुराण. गोरखपुरः गीताप्रेस।
7. महाभारत (खण्ड 1–6). गोरखपुर : गीताप्रेस ।
8. शिव पुराण गोरखपुर : गीताप्रेस।
9. महाभारत, वाल्मीकि रामायण – अरण्यकाण्ड, सीता–चरित्र. गोरखपुरः गीताप्रेस।
10. विवेकानंद, स्वामी. Complete works of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, 2010
11. सरस्वती, दयानंद. सत्यार्थ प्रकाश, आर्य समाज प्रकाशन, 1875.
12. चंदावरकर, जी. ए. (2008). हिंदू धर्म में नारी की गरिमा. नई दिल्लीः ज्ञान प्रकाशन
13. कुमार, डॉ. श्रवण. (2015). अर्धनारीश्वरः शिव और शक्ति का दर्शन. दिल्लीः परिमल पब्लिकेशंस ।
14. भार्गव, डॉ. पी. एल. (2022) वैदिक समाज में स्त्रियों के धार्मिक और सामाजिक अधिकार भारतीय विद्या शोध पत्रिका, मुम्बई, खण्ड 44, पृष्ठ 15–28 ।
15. शास्त्री, शकुंतला राव. (2002). वैदिक काल में महिलाएँ . नई दिल्ली : भारतीय विद्या भवन ।

★ ★ ★

आपने कोशिश की है ईश्वर आपको समर्थ बनाए और हम सब लोग जो भी आपसे जुड़े हुए हैं वो हम चाहते हैं कि इस क्षेत्र में जो पत्रिकाएं निकल रही हैं उससे यह बेहतर हो अलग हो और इसके बारे में धीरे–धीरे ही सही। लेकिन लोग माने कि हां अनन्त और अनादि अपने नाम को सार्थक कर रहे हैं। मैं अभी इस समय आपको अपनी शुभकामना देता हूं।

पद्मभूषण श्री राम बहादुर राय

अध्यक्ष
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, नई दिल्ली

शोध को मात्र एक करियर के रूप में ना देखें बल्कि इसे कर्तव्य के रूप में देखें। शोध पत्रिका अनन्त अनादि को केवल पब्लिकेशन का प्लेटफार्म ना समझे बल्कि ज्ञान की विरासत मानें। यदि हम इस भावना के साथ आगे बढ़े तो हम केवल ज्ञान का निर्माण नहीं करेंगे बल्कि हम एक ऐसा भविष्य बनाएंगे जहां भारत केवल अनुसरण नहीं करेगा बल्कि सबका मार्गदर्शन करेगा।

प्रो. हिमांशु राय

निदेशक
IIM इंदौर

जर्नल स्टार्ट करना एक बहुत बड़ा कार्य है। लेकिन उसको जारी रखना और गुणवत्ता मेंटेन करना उससे भी बहुत बड़ा कार्य है। आप सबने यह बीड़ा उठाया है। मैं कहूंगा कि आप लोग इसकी गुणवत्ता में कभी भी कंप्रोमाइज मत कीजिएगा। चाहे कभी पतला इशू आए, चाहे मोटा इशू आए, कमर्शियल इंटरेस्ट कभी हर्ट होंगे, कभी नहीं होंगे। लेकिन अगर इस विषय के प्रति ईमानदारी दिखानी है तो गुणवत्ता से ही हो सकती है।

प्रो. अजित कु. चतुर्वेदी

कुलपति
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारत अध्ययन केंद्र में जब हम हिंदू अध्ययन के विद्यार्थी थे। उस दौरान हिंदू अध्ययन के संदर्भ में प्रयत्न किए जा रहे अनेकानेक नावाचारों से होते हुए हमने इस शोध पत्रिका को प्रकाशित करने का ऐसा प्रयत्न किया।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दु:खतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

इसी ध्येय वाक्य को लेकर के हम सब इस पत्रिका का प्रकाशन शुभारंभ किए हैं।

सुमित राय

प्रधान संपादक
अनन्त अनादि

RNI NO.– UPHIN/26/A0189

ISSN-3139-4841

अनन्त अनादि

त्रैमासिक शोध पत्रिका

April-June 2026 | Volume - I, Issue - II

Published by Sumit Rai Printed at Bharti Publication, Varanasi
& Published at House no. 119 Vill-Jagarnath Chhapra,
Post- Ghanti Tehsil- Bhatpar Rani,
Deoria- Uttar Pradesh Editior- Sumit Rai

प्रकाशन तिथि –05 जुलाई 2026 । कुल पृष्ठ – 38 (आवरण सहित)